श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीलक्ष्मीनारायण मन्दिर पटनामें आयोजित स्व० श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाके द्वितीय पुण्य-दिवस समारोहकी झाँकियाँ—

समारोहमें सम्मिलित बिहारके राज्यपाल श्रीनित्यानन्दजी कानूनगोको श्रीविश्वनाथ शर्मा माल्यार्पण कर रहे हैं।
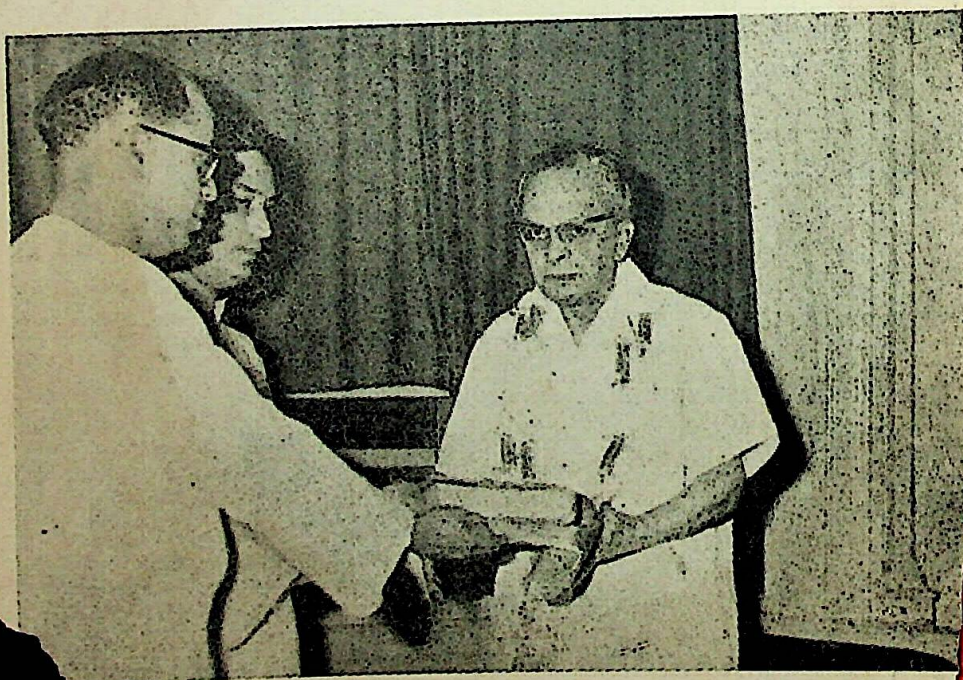
श्रीकानूनगोको स्वर्गीय बिरलाजीके प्रथम पुण्यदिवसपर प्रकाशित स्मृति-ग्रन्थ "एक बिन्दुः एक सिन्धु" की प्रति भेंट की जा रही है।

ग्राहकोंसे निवेदन

प्रिय महोदय,

'श्रीकृष्ण-सन्देश' आपका अपना पत्र है। आपकी कृपासे इसके ग्राहकों-अनुग्राहकोंकी संख्या तो बराबर बढ़ ही रही है, यह बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं, विद्वानों और कला-मर्मज्ञोंका सद्भाव-सहयोग भी प्राप्त करता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब आपका 'श्रीकृष्ण-सन्देश' देश-विदेशके समस्त श्रीकृष्ण-प्रेमियोंका प्रेरणादायक प्रिय पत्र बनकर अपना नाम सार्थक करेगा।

आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि 'श्रीकृष्ण-सन्देश' आगामी अगस्तसे अपने पाँचवें वर्षमें प्रविष्ट होकर नया परिवेश ग्रहणकर रहा है। फिर भी उसका वार्षिक मूल्य ७) सात रुपये मात्र ही है।

अतः आपसे सादर-सप्रीति निवेदन है कि आप अपना अगले वर्षका चंदा, चालू वर्षका यह अन्तिम अंक प्राप्त करते ही, मनीआर्डर द्वारा अग्रिम भेज देनेकी कृपा करें।

आपकी ओरसे आगामी वर्षका चंदा मनीआर्डरसे न आने पर 'अगस्तका अंक' वी० पी० द्वारा आपकी सेवामें भेजा जायेगा, जिसे आप अवश्य छुड़ा लेनेकी कृपा करें। अन्यथा वी० पी० लौटने पर व्यर्थमें हमारी संस्थाको पोस्टेजकी हानि उठानी पड़ेगी।

हमें आशा ही नहीं, विश्वास है कि आप कृपया 'श्रीकृष्ण-सन्देश' पर स्वयं तो अपना अनुराग बनाये रहेंगे ही, अपने इष्ट-मित्रोंको भी इसके ग्राहक बननेके लिये प्रेरणा प्रदान करेंगे। यह निवेदन करनेकी आवश्यकता नहीं कि आप 'श्रीकृष्ण-सन्देश' के निमित्तसे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके पावन पुनरुद्धार-यज्ञमें सम्मिलित होकर महान् पुण्यके भागी हो रहे हैं।

व्यवस्थापक
'श्रीकृष्ण-सन्देश'

श्रीकृष्ण-सन्देश

[धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक पत्र]

वार्षिक शुल्क : ७) रु० । आजीवन शुल्क : १५१) रु०

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : अंजलिके पावन पुष्प

ॐ। श्रीकृष्णभगवान्के जन्म-स्थानका पुनरुद्धार कार्य देखकर, भारतीयता और वैदिक धर्मकी उज्वल पताकाका फ़िरसे सिर ऊँचा देखकर अशान्त संसार शीघ्र ही इस वैदिक सूर्यसे आस्तिकता पूर्ण शान्ति पाएगा ऐसी चमक सी प्रतीत हुई। प्रभु ऐसा करे भी। शुभमस्तु। ॐ।

माता ब्रह्म ज्योति 'आश्रम'
गंगातट कुटी, उज्जली
पोस्ट उत्तर काशी (हिमालय)
उत्तर प्रदेश

आज श्रीकृष्ण-जन्मस्थान कटरा केशवदेवके दर्शनार्थ आया। यहाँ के निर्माणकी गति व उत्थानकी प्रगतिको देखकर दिलको अत्यन्त आनन्द हुआ। वस्तुतः इस वस्तुका सर्वांगीण विकास होना हर चरित्रवान व्यक्तिके लिए धर्म पालनके समान आवश्यक है। यह विश्वमें भव्य भूतकालीन भारतीय संस्कृतिकी स्मृतिका अमर चिह्न बनने जा रहा है और इससे भविष्यकी आनेवाली पीढ़ीको दिव्य प्रेरणा प्राप्त होगी। भारतीय वाङ्मयसे प्रेम रखने वाले लोगोंको इसकी सर्वतोभावेन उन्नतिके लिये अहर्निश प्रयत्न व सहयोग करना चाहिये।

बृजगोपाल दमाणी
२६ अनन्त वाड़ी, बम्बई

मुझे कृष्ण भूमिके दर्शन कर अति प्रसन्नता हुई और मन्दिरका कार्य देखकर बहुत उत्साह हुआ है। यहाँ के कर्मचारी बड़ी लगन और श्रद्धासे अपने काममें जुटे हुये हैं। मेरी यह शुभ कामना है कि यह महान् और पवित्र कार्य निर्विघ्न समाप्त हो।

चमनलाल बतरा
डाइरेक्टर ग्रान्डले केविल्स
नई देहली

आज मैं भ्रमणके क्रममें मथुरा आया और श्रीकृष्ण-जन्म भूमिके मन्दिरका संचालन व्यवस्थित एवं सुचारुरूपसे होता पाया। कार्यकर्ताओंमें बड़ी लगन है। मैं इस धार्मिक कार्यके लिये प्रगतिकी कामना करता हूँ।

लक्ष्मीनरायण गुप्त
राजस्व मंत्री (म० प्र० शासन)

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका पुनरुद्धार सचमुच ही एक महान प्रयास है। भारतीय संस्कृति धर्मको जीवित रखनेकी प्रेरणा इस प्रयाससे प्रत्येक भारतीयके मनमें सदैव मिलती रहेगी—ऐसा प्रतीत होता है।

कुंजबिहारी लाल
गीता वाटिका (गीता प्रेस)
गोरखपुर

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थानका जीर्णोद्धार तथा मन्दिर निर्माण करके ट्रस्टने समस्त लोकका महान् कार्य किया है। हम सब उसके आभारी हैं।

गुरु मौजप्रकाश
उप शिक्षानिदेशक (अर्थ) उ० प्र०
इलाहाबाद

Every temple is a holy building and we ordinary people only look upon it with our simple eyes. But we see how many generations of the mankind did their work here, one stone standing upon the other. And so we are much impressed by such a temple, where thousands of years left their traces.

Dr. GERD GROPS
HAMBURG, GERMANY

Excellent arrangements & Good Guidance for people visiting the place.

Dr. & Mrs. A.M.N. AMARAKONE
STATE ENGINEERING CORPORATION
COLOMBO, CEYLON

We have visited this excellent place of Very Great Holy importance & we are very much pleased to see the work going on for the improvement of the place. Shri Birlaji really deserves congratulation for the humble job he is doing for the Hinduism.

VINOD. S. PATEL
Mg. Director
Raj PRAKASH Spg. Mills Ltd.
CAMBAY (GUJRAT)

I have seen with great interest the birthplace of Bhagwan Krishna. Every Hindu who can hope to darshan should Visit the place.

JUSTICE A. N. GROVER
SUPREME COURT
N. DELHI.

A very nice temple. The birth-place is so inspiring. It fills you with bliss.

V. N. VERMA
Additional Registrar
High Court.

The Great work launched by industrialists like Shri Birlas, Dalmias & Poddars, to resuscitate, the birth place of Lord Krishna, will remain as a Monument of "Revived Hinduism for long time to come. May their efforts Come true !! May Lord Krishna bestow success upon their efforts. !!

A. C. MITRA
BARRISTER-AT-LAW
18/2 BALLY GANGE Circular Rd.
CALCUTTA-19

It was an exciting experience to have gone round this Saered place, which is bound to be nucleus of the regeneration of Indian Culture.

गनपत राय
उप सचिव' राजस्व (राजस्थान)

P. K. B. KURUP
Special Secretary
Govt. of Rajasthan
Jaipur

I. C. SRIVASTAV
S. D. M., BHARATPUR

के. पी. माथुर
अधिशासी अभियन्ता (भवन एवं पथ)
जयपुर

श्याम दुबे
आयुक्त देवस्थान (राजस्थान)

The small prison cell in which the Lord was born on a dark & dismal night to save the Country from the evil deeds of the wicked has been so well preserved that the sacred place fills the heart of every devotee with reverential awe.

A. K. BANERJI
Dy. Inspector General of Police
WEST BENGAL
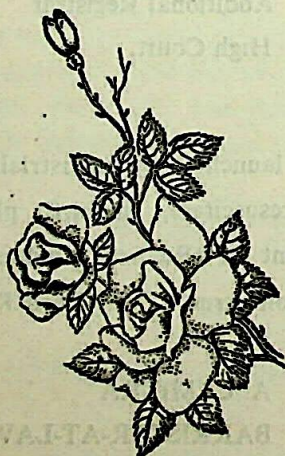
श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

वर्ष ४] मथुरा, जुलाई १९६९ [अंक १२

सुखी कौन ?

•

तुम सुख चाहते हो। जगत्के सभी जीवजन्तु सुखके अभिलाषी हैं, परन्तु सुखी कौन है और सुख क्या है, इसे बहुत लोग नहीं जानते। कर्म और अकर्मके स्वरूप-निर्णयकी भांति सुख-दुःखके स्वरूप निर्णयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। कुछ दार्शनिक सुख-दुःखोंकी गणना गुणोंमें करते हैं और अनुकूल वेदनीयको सुख तथा प्रतिकूल वेदनीयको दुःखकी संज्ञा देते हैं; परन्तु यदि दुःखकी भाँति सुख भी आत्मासे भिन्न वस्तु है तो वह सतत अनुकूल वेदनीय नहीं हो सकता। सतत अनुकूल वेदनीय केवल अपना आत्मा है; अतः वही सुख है। जो आत्मा (अथवा परमात्मा) से भिन्न वस्तु है, वह अनात्मा है। जो अनात्मा है, वह दुःख रूप है। यह लोक—यह शरीर अनित्य है, असुख है, इसे पाकर तुम मेरा (सुखस्वरूप आत्मा या परमात्मा) का भजन करो। यदि आत्माको अनात्माके संपर्कसे बचाये रक्खा जाय—विवेक द्वारा सत् आत्माके स्वरूपको अनात्मा (असत् प्राकृत प्रपञ्च) से विलक्षण समझ लिया जाय तो सुख-दुखको समझनेमें भ्रम नहीं हो सकता है।

विशुद्धरूपसे जाना हुआ आत्मा ही अपना बन्धु है, प्रिय है; अनात्मामें आसक्त आत्मा स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है। विषयेन्द्रिय संयोगसे जो कुछ भोगा या अनुभव में लाया जाता है, उसे मात्रा कहते हैं। मात्रा-स्पर्श शीत-उष्ण अथवा सुख-दुःख देने वाले हैं। भोग जनित सुख भी दुःख रूप ही हैं; क्योंकि जितने भी संस्पर्शज भोग हैं, वे दुःख के ही हेतु हैं, उनसे बचो। वे सब राजस सुख हैं, रजोगुणजन्य हैं, उनके मूलमें राग है। राग होता है संगसे। संगसे काम, कामसे क्रोध, क्रोधसे स्मृति-भ्रंश, स्मृति-भ्रंशसे बुद्धि नाश और बुद्धि नाशसे सर्वनाश अवश्यम्भावी है। संग या आसक्ति ही विनाश परम्पराका मूल है, उसे सुदृढ़ असंग-शस्त्रसे काट दो। वैराग्य रूपी परशुसे ही आसक्तिका वृक्ष कटता है। उसे काटे विना तत्पद (सुख स्वरूप परमात्म पद) का अनुसन्धान नहीं हो सकता।

काम, क्रोध और लोभ—ये तीन नरक के द्वार हैं। दारुण दुःख भोगनेके स्थान का नाम नरक है। इनका त्याग करो। ये तुम्हारे शत्रु हैं, इन्हें मार दो। ये ही तुम्हें दुःख देते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि-ये ही इनके ठहरनेके स्थान हैं। इन कामायतनोंको रामायतन या श्यामायतन बनाओ। इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अभ्यास और वैराग्य द्वारा वशमें कर लिया जाय तो ये काम, क्रोधादि दस्यु वहांसे भाग खड़े होते हैं, फिर तो जो कामका डेरा या अड्डा हो गया था, वह स्थान राम और श्याम का विशुद्ध धाम या मन्दिर बन जाता है। फिर तो दुःखकी दुनिया शाश्वत सुखमें बदल जाती है। जो इसी जीवनमें देह-त्यागके पूर्व ही काम और क्रोधके वेगको सहने या रोकनेमें समर्थ हो जाता है, वही मनुष्य युक्त या सुखी होता है। जो वस्तु पहले तो अमृत-सी लगती है, किन्तु परिणाममें विष तुल्य हो जाती वह राजस सुख है, उस सुखका पर्यवसान दुखःमें ही होता है।

जो पहले विष-तुल्य प्रतीत होता हो, परन्तु परिणाममें अमृत-तुल्य हो वह सात्विक सुख है; परन्तु आत्यन्तिक सुख तो केवल बुद्धिके द्वारा कुछ-कुछ जाना जा सकता है, वह गुण रूप नहीं गुणातीत है, अतीन्द्रिय है। वह है विशुद्ध सच्चिदानन्दमय आत्मा। जो अपने भीतर ही सुखका अनुभव करता है, अपने आपमें ही आराम पाता है, तथा अन्तर्जगत्‌में ही जिसे प्रकाश प्राप्त होता है, वह बुद्धि-योग युक्तात्मा पुरुष अक्षय सुखका भागी होता है; तुम भी उसी सुखको प्राप्त करो। बालूसे तेल निकालनेकी भाँति विषयोंसे सुखकी आशा मत करो।
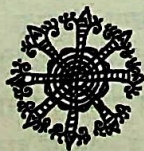
स्वीकृत सत्यके साथ एकाकार होने पर ही जीवन सार्थक

सिद्धान्त और जीवन

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

यों तो वेदान्तसिद्धान्तका दृढ़ बोध अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रखता, पर विद्याका अपरा विद्याकी अपेक्षा वैशिष्ट्य भी यही है। परन्तु यह दृढ़ बोध या अपरोक्ष साक्षात्कार सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं है, इसके विशेष व्यक्ति ही अधिकारी होते हैं। बाह्य संसारकी सत्यताके सम्बन्धमें हमारा जितना दृढ़ बोध है, शरीरके साथ हमारा जितना तादात्म्य, एकत्व या अहंभाव है, उतना ही दृढ़ बोध यदि वस्तुत्वके सम्बन्धमें हो जाय तो अनुष्ठानकी अपेक्षा क्यों होने लगी ? वहाँ तो सारे अनुष्ठान ब्रह्माकार वृत्तिके अन्तर्भुक्त होकर स्वरूपशून्य हो जाते हैं।

यह एक प्राकृतिक नियम है कि प्रत्येक प्राणीका आचरण उसके ज्ञानके अनुसार ही होता है। अपने ज्ञानके विरुद्ध, धारणाके विपरीत (विवशताकी दूसरी बात है) कोई काम नहीं किया जा सकता। हम समझते हैं कि रुपये, स्त्री, पुत्र, यह शरीर अच्छी चीज है, इनकी रक्षाके लिये सर्वदा सचेष्ट रहते हैं। यहाँ तक कि हमारी प्रत्येक क्रिया ही उसीको लक्ष्य करके होती है। यदि ऐसी ही धारणा बंध जाय, हृदयके कोने-कोनेमें यह बात बैठ जाय कि एक मात्र सच्चिदानन्द प्रभु या आत्मतत्वके अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं, सब कुछ वही या मैं हूँ, तो इस मिथ्यात्वेन निश्चित प्रकृति और प्राकृत पदार्थोंके सम्बन्धमें होने वाले शुभ या अशुभ अनुष्ठानोंकी ओर वृत्तियोंकी प्रवृत्ति ही क्यों होने लगी ? उदाहरणतः जिसे पूर्णतया यह बात मालूम हो गयी कि जिसे हम जलके रूपमें देख रहे हैं वह वास्तवमें जल नहीं है, किन्तु मरुस्थलमें सूर्यकी किरणें ही जलकी भाँति चमक रही हैं, तो वह कदापि प्यास लगने पर उधर पानीके लिये नहीं जा सकता, बल्कि दूसरा कोई जाता दीखे तो उसे भी रोकनेकी चेष्टा करेगा, कोई जानेके लिये विवश करे तो भी प्रसन्नतासे नहीं जायगा। वैसे ही जिन्होंने जगत्का मिथ्यात्व जान लिया, इसकी दुःखरूपता और हेयताका विचार

कर लिया, वे कभी जगत्‌की नानाविध प्रवृतियोंमें जा ही नहीं सकते और न उन्हें जानेकी आवश्यकता ही है। ये अमुक कर्म करें, अमुक न करें, इस प्रकारके विधिनिषेध उन पर लागू ही नहीं होते और न उन्हें उन पर कोई लागू कर ही सकता है। यहाँ तक कि उनके सम्बन्धमें कुछ लिखना पढ़ना भी बेकार ही है।

कहना-सुनना तो हम साधारण लोगोंके विषयमें ही बनता है। हमारा बौद्धिक ज्ञान चाहे जितना बड़ा हो, हम चाहे जितना सुन्दर लेख लिखते हों, व्याख्यान झाड़ते हों, बाह्य त्यागका आडम्बर रचते हों; परन्तु अभी हमारा हृदय संसारकी सत्यता, प्रियता और एषणाओंसे शून्य नहीं हुआ है, ये सब स्वार्थ-सिद्धिके लिये कलामात्र हैं। चाहे वह स्वार्थ रुपयेका हो, मान-प्रतिष्ठाका हो या कीर्तिका हो।

हम निष्काम कर्मका नाम लेकर भोली-भाली जनताकी आँखोंमें धूल डाल सकते हैं, प्रेमलक्षणा भक्ति और अपरोक्ष ज्ञानके बहाने अपनी वासनाओंकी पूर्ति कर सकते हैं और अपने नामके साथ कुछ भी उपाधि जोड़कर लोगोंसे पूजा करा सकते हैं, किन्तु परम सत्य तो यह है कि हम वास्तविक ज्ञान और परमार्थसे बहुत दूर हैं।

सिद्धान्तकी दृष्टिसे प्रवृत्तिमात्र ही अविद्या और कामनाके कारण होती है। बिना संसारमें सत्यत्वबुद्धि आये, चाहे वह क्षण भरके लिये ही क्यों न हो, कर्म हो ही नहीं सकता। आधिकारिक महापुरुषोंकी बात दूसरी है। और जब हम संसारमें आते हैं, भेदको, द्वैतको, अज्ञानको स्वीकार करके ही आते हैं, स्वीकार कर लेने पर उसके परिणाम-कामनाओंसे बच नहीं सकते। यदि बचते नहीं तो यह भी दृढ़ निश्चय है कि हम नाना प्रकारके बन्धनों तथा दुःखोंसे घिरे हुए हैं, सिद्धांतसे च्युत या नीचे उतरे हुए हैं, हमें आदर्श स्थिति प्राप्त नहीं हुई है। जीवनको जीवित करने वाली एकमात्र यही अभिलाषा पहले होती है तथा जीवन पर्यन्त रहती है और रहनी चाहिये कि यह जीवन सिद्धान्त पर आरूढ़ हो जाय। परमानन्दकी साक्षात् अनुभूति करनेके लिये चला हुआ पुरुष जब उसे छोड़कर संसारकी ओर लौटता है, तो लौटकर वह चाहे जितना लोकहितकर कर्म करे, प्रश्न उठता यह है कि उस अनुभूतिका फल क्या यही हुआ है? यदि यही है तो उसके लिये प्रयत्न न करके इस फलमें ही जीवनकी स्थिति की जाय। उस परमानन्दकी अपेक्षा इसमें अधिक आनन्द न होता तो उसे छोड़कर इसकी तरफ क्यों ढुलक पड़ते? और यह तो सिद्धान्त ही है कि सब कुछ अपने लिये ही प्यारा है। यदि उसपर निरंतर आरूढ़ न रह सकनेके कारण यह 'अवतरण' हुआ है तो इसकी अपेक्षा होती और सर्वथा अच्छा है कि उस आदर्श स्थितिको प्राप्त करनेके लिये निरंतर पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न किया जाय। इस साधनकी स्थितिमें अपनेको सिद्ध घोषित करके, अपनी आचार्यताका दावा करके, चेला-चेली, उपदेश, लेख, लोकसेवाकी आड़में अपनी वासनाओंकी पूर्ति करके हम परमार्थ-च्युत न हो जायें, बल्कि जहाँ तक हो सके हमारा प्रत्येक क्षण 'आरुरुक्षु' के रूपमें ही बीते। आरुरुक्ष-साधकके लिये कर्मकी आवश्यकता है।

परन्तु वह परम कल्याणके लिये नहीं, लोक-संग्रह और आडम्बरके लिये नहीं, किन्तु आत्म-शुद्धिकी सच्ची भावनासे साधन रूपमें आत्म-कल्याणके लिये होनी चाहिये।

इस प्रकारका कर्म केवल वही कर सकता है जो अपनेको कृतकृत्य नहीं समझता। किन्तु आदर्श स्थितिके लिये सिद्धान्त पर आरूढ़ होनेके लिये सच्ची उत्सुकता रखता है। यह आध्यात्मिक पथ नितान्त व्यक्तिगत तथा स्वाश्रित है। एक समूहमें इसके संस्कार पड़ सकते हैं—कुछ लोग इस पथ पर चलनेके लिये उत्तेजित कर सकते हैं, प्रोत्साहन दे सकते हैं—वह भी नाममात्र, कहने भरका, आश्वासनमात्र; नहीं तो यात्रा अकेले ही करनी पड़ेगी। कोई भी साथी अथवा सहायक वहाँ तक पहुँचा नहीं सकता, हमें स्वयं चलकर इस मार्गको तय करना पड़ेगा और अन्तमें तो एक अद्वितीय, निर्द्वन्द्व वस्तुस्थिति होगी ही।

अनादि कालसे, जन्म-जन्मान्तरसे इसी संसारमें रहते-रहते, इसके संस्कार इतने दृढ़मूल हो गये हैं कि उन्हें दूर करना सरल नहीं। इसके लिये बड़े अभ्यास परम श्रद्धा, तत्परता और सुदृढ़ संयमकी आवश्यकता है। मोहवश स्त्री-पुरुषोंको छातीसे चिपकाये रहें, कौड़ी-कौड़ीकी गिनतीके लिये लालटेनके सामने जागकर रात्रि व्यतीत करते रहें, और परमार्थ हमें स्वयं आकर प्राप्त हो जाय, यह सब कल्पना जगतकी, स्वप्नकी बातें हैं। मिथ्या प्रलोभनवचनोंमें पड़ा हुआ पुरुष परमार्थ पथका पथिक नहीं हो सकता। इसके लिये घोर तपस्या करनी होगी, सर्वस्व त्याग करना होगा और विविध विघ्न बाधाओंसे संतप्त इस संसार रूप भीषण समुद्रमें असंख्य तरंगाघातोंका सामना करनेके लिये एक निष्ठुर और दारुण शिलाखंडकी भाँति स्थित होना होगा। जैसे भूखा सिंह अपनी भक्ष्य वस्तुको देखते ही उसपर अपनी सारी शक्तिसे तत्क्षण आक्रमण कर देता है, उसी प्रकार हमें अपने लक्ष्य पर टूट पड़ना होगा। मार्ग लम्बा है, पर उसका अन्त अवश्यम्भावी है। शिथिल उत्साहसे काम नहीं चलेगा। यही भाग्योदयका शुभ समय है, यही पवित्रतम देश है। बिना किसी प्रकारकी हिचकिचाहटके एक छलाँगमें ही हम उस 'आवरण' को नष्ट कर दें जो हमें अपने लक्ष्यसे पृथक किये हुए है। यह भी जान लेना चाहिये कि वह आवरण कोई दूसरी वस्तु नहीं, हमारे उत्साहकी न्यूनता ही है, सच्ची व्याकुलता मुमुक्षा या जिज्ञासाके अभावके कारण ही नाना प्रकारके बहाने बनाकर हम अपनेको दूसरोंकी दृष्टिमें आध्यात्मिक सजानेमें लगे हुए हैं और संभवतः दूसरोंको ठगनेके लोभमें आकर स्वयं ठगे जा रहे हैं।

हम दूसरोंके उद्धारकी शक्ति नहीं रखते। अभी पहले अपना उद्धार तो करलें। और अपना उद्धार तभी सम्भव है जब हम सिद्धान्तपर आरूढ़ हो जायें, आदर्श स्थिति प्राप्त कर लें। इसलिये अन्तरमें लोकैषणाको छिपाकर रखने वाले इस परोपकारकी ओट छोड़कर हम लोग अन्तरकी ओर बढ़ें। कालरूप प्रभुकी उपासना करते-करते बहुत दिन हो गये, अब आत्मरूप प्रभुकी उपासना करें। ऐसी उपासना करें कि साधक-साध्य और उपासक-उपास्य सभी उस अनन्त साधनामें, उपासनामें आकर मिल जायें। उसमें केवल साधना-

ही-साधना रह जाय। वस्तुतः यही सिद्धान्त और आदर्श स्थिति है। यह सिद्धान्त जबतक जीवनके परमाणु-परमाणुमें व्याप्त न हो जाय, इसकी अविच्छिन्न धारा रग-रगमें अभिनिविष्ट न हो जाय और जीवनविन्दु सिद्धान्तके महासमुद्रमें मिलकर वही न हो जाय तवतक इस निष्ठुर साधनाकी प्रगति अवाधित गतिसे उत्तरोत्तर बढ़ती ही जानी चाहिये। अब प्रश्न यह होता है कि साधनाका वास्तविक रूप क्या है ? वस्तुतः इसी प्रश्नके चक्रवातमें पड़कर हम सभी अधरमें लटक रहे हैं। हमारी वही दशा है जो धोवीके कुत्तेकी होती है। साधनका सच्चा रूप है कृत्रिमको छोड़कर अकृत्रिमकी ओर अनात्माको छोड़कर आत्माकी ओर, अन्तमें उसीमें परिनिष्ठित हो जाना। अर्थात् बहिर्विषयोंकी ओर दौड़ने वाले वृत्ति-प्रवाहको संकुचित करके उसे प्रत्यक्चेतनकी ओर प्रवाहित करना ही वास्तविक साधन है। हमें बार-वार धोखा होता है, जन्म-जन्मकी संचित वासनाओंसे हमें अनेकों बार पददलित होना पड़ता है। हम एक क्षण देवता होनेका संकल्प करने पर भी दूसरे ही क्षण दानव हो जाते हैं। श्रीप्रभुके चरणोंका आश्रय लेकर अथवा प्रारब्धके ऊपर निर्भरकर बार बार योगक्षेम तथा भोगोंकी ओरसे निश्चिन्त होनेका निश्चय करने पर भी हम उसीके लिये सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं। प्रिय वा अप्रिय मात्रा-स्पर्शोंकी कटुता एवं दुःखयोनिता पर विश्वास रखनेकी चेष्टा करते रहने पर भी उनसे बार-बार प्रभावित होते रहते हैं। यह सब सत्य होने पर भी निराश होनेका कोई कारण नहीं है। इन द्वन्द्वोंके रूपमें आने वाली विविध विघ्नवाधाओंसे तुमुल युद्ध करके हमारा आत्मविकास ही होगा, इसमें सन्देह नहीं है। किसी समय, किसी देश और किसी वस्तुमें यह शक्ति नहीं कि हमें अपनेमें अन्तर्भूत कर सके। इसके विपरीत इन्हें हमारे अन्दर आना ही पड़ेगा। श्रुतियोंके, भगवान्के, सद्‌गुरुओंके वचनपर विश्वास करके यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि इन्हें हमने ही जीवित किया है कर रहे हैं और जब चाहेंगे इन्हें समेट कर इनके अत्यन्ताभावके निरपेक्ष साक्षी रूपमें प्रतिष्ठित हो जायेंगे। यदि ऐसा है तो अभीसे क्यों नहीं हो जाते ? इसलिये कि अभी हमें अपनी शक्ति पर, महिमापर सच्ची निष्ठा नहीं है। प्राचीन समयमें इस साधनका श्रेणीविभाग था। ऐतरेय, तैत्तिरीय उपनिषदों और उन्हींके आधारपर रचे हुए अनुभूतिप्रकाश आदि अर्वाचीन ग्रन्थोंके देखनेसे पता चलता है कि पहले अन्तः कोशके साथ तादात्म्य स्थापित करके बहिःकोषपरसे अहंभाव हटवाया जाता था और इस प्रकार क्रम-क्रमसे अन्तरतम वस्तुका बोध कराया जाता था। इस प्रणालीसे अपने चतुर्विध योग का सम्वन्ध समन्वय भी इस ज्ञान-साधनाके साथ पूर्णतः हो जाता था।

इस स्थूल शरीरसे, जो अपवित्र और घृणित वस्तुओंका पुलिन्दा है, अहंभाव हटानेके लिये मन्त्र योगकी साधना थी। उसके द्वारा हम अपनेको मन्त्रमय चिन्तन करके एक ज्योति रूप प्राण शक्तिके विग्रहके साथ तादात्म्यापन्न होते और इस मांस पिण्डसे स्वतः ही असंभावना उठ जाती थी। हठ योगके द्वारा इस प्राण शरीर पर आधिपत्य स्थापित करके ज्ञान शक्तिकी ओर अग्रसर होते थे और धीरे धीरे लययोगके अभ्याससे मनोमयकोष पर भी

विजय पा लेते थे। अभ्यासकी परिपक्वतासे राजयोग प्रतिष्ठित होता था और हमें कर्तृत्व-प्रधान विज्ञान या अहंसे छूटकर कर्तृत्वशून्य, अनन्त आनन्द स्थितिमें निरपेक्ष स्वयंप्रकाश फलज्ञानका आविर्भाव होता था, जिससे पूर्वोक्त भावनाओंका भावनात्व नष्ट होकर वे वस्तु स्थिति या सिद्धान्त बन जाती थीं। इस भावनामें न वासनाक्षय-मनोनाशके लिये पृथक् प्रयत्न ही करना पड़ता था और न 'तत् त्वं' पदार्थकी विवेचना ही सीखनी पड़ती थी। भूमिका भेदकी भी अपेक्षा नहीं थी और श्रवण-मात्रसे अपनेको कृतार्थ माननेकी आत्म-वंचनाके लिये तनिक भी अवसर नहीं था। तथा मृत्युके पश्चात् होने वाली मुक्तिके धोखेमें पड़कर कोई जीवन मुक्तिसे हाथ नहीं धो बैठता था, जैसा कि प्रायः आजकल हो रहा है।

इस साधना में बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद कराते हुए वासनाक्षयकी ओर ले चलनेके लिये वैराग्य-देव स्वयं उपस्थित रहते थे। तत्पदार्थके साक्षात्कारकी ओर अग्रसर करके मनको भगवद्रूपता देती हुई भक्ति देवी साधकको साक्षात् मनोयोगके उत्तम प्रासाद पर स्थापित कर देती थी ऋद्धि सिद्धि तथा विविध प्रकारकी मुक्तियों एवं बन्धनोंके अत्यन्ताभावके साक्षी केवल निरपेक्ष ज्ञानदेव, जैसे कि वस्तुतः है, अपने आपमें ही मग्न रहते थे।

यही सिद्धान्त है—वस्तुस्थिति है, जो जीवनको आत्मसात् करके ही प्रतिष्ठित होती है। वही सिद्धान्त सच्चा सिद्धान्त है जो जीवनको अपनेमें अन्तर्भूत करले और वही जीवन सच्चा जीवन है जो सिद्धान्तमय हो।

जबतक हम इस स्थितिपर आरूढ़ न हो जायं तबतक निरंतर कठोर साधनाके द्वारा इसपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये, किसी प्रकार भी अपनी कृतकृत्यताके धोखे में नहीं पड़ना चाहिये।

वासनाएँ बहुत बलिष्ठ हैं। ये बार-बार संसारकी ओर खींचती रहती हैं। कई बार हम इनके चक्करमें आकर अपने आपको खो बैठते हैं। अतः इनका कड़ा निरीक्षण होना चाहिये। वासनाओंका सबसे भयंकर रूप है किसीको सिद्धके आसनपर बैठा देना। इस दल-दलमें फँसकर शायद ही कोई धीर-वीर निकल सकता है। इसलिये हमें प्रतिपल इनकी परीक्षा करते रहना चाहिये। आदर्श वह है जिससे कभी फिर संसारमें लौटकर न आना पड़े। जबतक लौटते हैं तबतक सच्चे तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हुई। जो दूसरोंके उद्धारकी कम्पनियाँ खोलकर बैठे हों उन्हें खोलने दें, उनसे अपना कोई मतलब नहीं। हमें तो अपने आपको देखना चाहिये और यह याद रखना चाहिये कि सिद्धान्त ही जीवन है और जीवन ही सिद्धान्त है तथा जबतक दोनों पृथक्-पृथक् हैं तबतक दोनों ही निष्फल हैं।

अवतार तत्वके प्रतिपादनपूर्वक उनका वर्गीकरण

भगवानके अवतार

पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

●

जयन्ति गोबिन्दमुखारविन्दे मरन्दसान्द्राधरमन्दहासाः ।
चित्ते चिदानन्दमयं तमोघ्नममन्दमिन्दुद्वमुद्गिरन्तः ।।

भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त हैं। उनके गुण अनन्त हैं तथा उनकी लीलाएँ भी अनन्त हैं। वे सब कुछ हैं और सबसे परे भी हैं, उन्हींको सर्वव्यापी परब्रह्म कहा गया है। वे ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा, निखिल ब्रह्माण्ड-नायक भगवान तथा लीला-पुरुषोत्तम आनन्दकन्द नन्दनन्दन हैं। वे क्या हैं और क्या नहीं, इसका निर्णय करना कठिन ही नहीं असंभव है। श्रुति भी उनके विषयमें नेति-नेति कह कर मौन धारण कर लेती हैं। संसारके समस्त प्राणी भिन्न-भिन्न मार्गोंसे उन्हींकी ओर जा रहे हैं। भिन्न-भिन्न रूपों में उन्हींकी उपासना करते हैं। वे ही सबके हृदय-देशमें रमण करने वाले श्रीराम हैं तथा वे ही सबको अपनी ओर आकृष्ट करने वाले श्रीकृष्ण कहे जाते हैं। श्रीकृष्ण पूर्ण परमात्मा होनेके साथ ही पूर्णतम मानव हैं। उनके गुणोंमें इतना आकर्षण हैं, उनकी चर्चामें इतना रस है कि सभी उनके विषयमें कुछ कहना चाहते हैं।

अवतारवादके विरुद्ध उठाई जाने वाली शंकाओंका विचार-दृष्टिसे कोई महत्त्व नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण अवतार लेते हैं, एक देशमें प्रकट होते हैं, उतरते हैं, आते-जाते हैं, सब कुछ करते हैं और सब कुछ कर सकते हैं, फिर भी उनकी भगवत्तामें, सर्वव्यापकता में तथा महत्तामें कोई दोष या अन्तर नहीं आता। वे सर्वशक्तिमान् हैं, 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुं' समर्थ हैं, फिर उनके विषयमें मानव-बुद्धिका यह निश्चय करना कि वे अमुक काम कर सकते हैं और अमुक नहीं कर सकते, कितना उपहासास्पद है। जब वे बिना पैरके चल सकते हैं, बिना हाथके ग्रहण कर सकते हैं और आंख तथा कानके बिना ही देख और

सुन सकते हैं तो अवतार क्यों नहीं ले सकते ? यह विराट्-विश्व, भगवान्का अवतार नहीं तो क्या है ? श्रुति कहती है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—

'उसने सृष्टि करके स्वयं उसके भीतर प्रवेश किया ।'

पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुनः स पुरुषो भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ।।

"उसने दो पैर और चार पैर वाले शरीर बनाये और स्वंय ही पुरुष [अन्तर्यामी[रूपसे उनके भीतर प्रवेश किया ।" क्या इससे जगत्के समस्त प्राणी परमात्माके अवतार नहीं सिद्ध होते । 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' का भी यही तात्पर्य है । इससे भी उनकी सर्वव्यापकता ही स्पष्ट रूपसे सिद्ध होती है । व्यापक महाकाश ही अनन्त घटाकाशोंके रूप में अवतीर्ण हो सकता है । इसी प्रकार सर्वत्र व्यापक परमात्मा ही अनन्त जीवोंके रूपोंमें प्रकट होने की क्षमता रखता है । अतः अवतारवाद परमेश्वरकी सर्वव्यापकताका बाधक नहीं, साधक ही है । वेद की तो यह स्पष्ट घोषणा है—

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्ङ जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ।।

(यजु० ३२।४)

'यह परमात्मा ही सम्पूर्ण दिशाओं तथा अन्तर्दिशाओंमें व्याप्त है । यही हिरण्यगर्भरूपसे सबसे प्रथम उत्पन्न (प्रकट) हुआ था, माताके गर्भमें भी यही रहता है और यही उत्पन्न होने वाला है । मनुष्यो ! यही सर्वव्यापक और सब ओर मुखों वाला है ।'

यदि कहें, इस तरह तो विश्वके समस्त प्राणी भगवान्के अवतार ही सिद्ध होते हैं, फिर साधारण जीवों और अवतारोंमें अन्तर ही क्या रहा ? तो इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि तत्त्व-दृष्टिसे वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है, पर व्यवहार-दृष्टिसे अन्तर है । जीव बद्ध होते हैं और अवतारमुक्त ! जीव परतन्त्र है और अवतार परम स्वतन्त्र । जीवों का शरीर पाञ्चभौतिक है और अवतारोंका दिव्य चिन्मय । यद्यपि गुणातीत अवस्था अथवा परा भक्तिकी स्थितिमें पहुँचे हुए संत-महात्मा, ऋषि-महर्षि भी मुक्त एवं स्वतन्त्र होते हैं, फिर भी उन्हें अवतारकी संज्ञा नहीं प्राप्त होती । अवतारके कुछ ध्येय, कुछ उद्देश्य होते हैं, उनकी पूर्तिके लिये जब भगवान की इच्छासे उन्हींका अंश-विशेष अथवा स्वयं भगवान ही इस लीला भूमिमें अवतीर्ण होते हैं उस समय उनके परम मङ्गलमय दिव्य-विग्रहको अवतार नाम दिया जाता है । अवतारोंके जन्म, कर्म और स्वरूप सबमें दिव्यता विलक्ष-

एता होती हैं। वे जीवन्मुक्त और परम स्वतन्त्र होते हैं। उनके संकल्प सत्य और क्रियायें अमोघ होती हैं। वे केवल लोकहितके लिये यज्ञार्थ कर्म करते हैं, स्वयं तो नित्य-तृप्त और आप्त-काम होते हैं। उनमें निग्रह-अनुग्रहकी विलक्षण शक्ति होती है। वे जीवोंको जीवन मृत्यु और मोक्ष सब कुछ देनेकी क्षमता रखते हैं। उनके जीवनमें जो सुख-दुःख आदिके अवसर आते हैं और उस समय जो वे सुखी दुखी देखे जाते हैं वह उनका अभिनयमात्र है। वे वास्तवमें हर्ष-शोक आदिके वशीभूत नहीं होते। अवतारोंके कतिपय गुणोंका विकास ऋषि-महर्षि तथा संत महात्माओंमें भी होता है, परन्तु वे अवतार-साध्य सभी कर्मोको करनेके अधिकारी नहीं होते। धर्मकी स्थापना और यथाशक्ति साधु-पुरुषोंकी रक्षाके लिये तो महात्मा पुरुष भी प्रयत्न कर सकते हैं, किन्तु उन्हें दुष्टोंके संहारका कोई अधिकार नहीं दिया गया है। यह कार्य भगवान् या उनके अवतार ही करते हैं और कर सकते हैं।

इस प्रकार अवतारवादका सिद्धान्त वेदानुमोदित, शास्त्र-सम्मत और युक्ति-संगत है। एक देशमें प्रकट होने पर भी उनकी सर्वव्यापकतामें बाधा नहीं आती, इस बातपर भी प्रकाश डाला जा चुका है। इस विषयमें विद्वान पुरुष अग्निका दृष्टान्त भी दिया करते हैं जैसे अग्नि तत्व परमाणु रूपसे सर्वत्र व्यापक है, लकड़ीं और पत्थर आदिमें अन्तर्निहित है, फिर भी वह एक देशमें या एक ही समय अनेक देशोंमें साकार रूपमें प्रकट होता देखा जाता है और जहां भी प्रकट होता है, अपनी दाहक एवं प्रकाशक शक्तिको पूर्णतया साथ लिये रहता है। इसी प्रकार भगवान् निराकार रूपसे सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी साकार रूपसे एक देशमें या एक साथ अनेक देशोंमें प्रकट होते हैं, फिर भी उनकी सर्वव्यापकता और सर्वज्ञतामें कोई अन्तर नहीं आता।

यद्यपि भगवानके प्रायः सभी अवतार नित्य शाश्वत तथा अप्राकृत हैं, तथापि किसी अवतारमें शक्तिकी कुछ न्यूनता और किसीमें शक्तिका अधिक उत्कर्ष दृष्टिगोचर होनेसे विचारकोंने उन अवतारोंमें अंशावतार और पूर्णावतार आदिकी कल्पनाएं की हैं। जैसे अगाध सरोवरसे हजारों छोटे-छोटे सोते निकलते हैं, उसी प्रकार भगवान्के असंख्य अवतार होते रहते हैं। अतः उनकी कोई गणना नहीं हो सकती। तथापि दृष्टिभेदसे शास्त्रोंमें उन अवतारोंका वर्गीकरण किया गया है। सामान्यतः तीन प्रकारके अवतार माने गये हैं—पुरुषावतार, गुणावतार और लीलावतार। पुरुषावतार तीन हैं—संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इन्हें व्यूहावतार भी कहते हैं। गुणावतार भी तीन ही हैं—श्रीविष्णु, ब्रह्मा तथा रुद्र। इनमें क्रमशः सत्व, रज और तम—इन तीन गुणोंकी प्रधानता है। लीलावतारका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

भावयत्येष सत्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्‌ नरादिषु॥ (१।२।३४)

'सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति करने वाले भगवान् श्रीहरि देवता, पशु-पक्षी तथा मनुष्य आदि योनियोंमें लीलावतार ग्रहण करके सत्वगुणके द्वारा समस्त जीवोंका पालन-पोषण करते हैं।'

मनुष्योंको संसार-बन्धनसे मुक्त करने वाली लीलाएं करनेके उद्देश्यसे भगवान के जो अवतार होते हैं, उन्हें लीलावतार कहते हैं। श्रीमद्भागवत (१।३) में निम्नांकित क्रमसे २२ लीलावतारोंका नामोल्लेख मिलता है—सनकादि, वाराह, नारद, नर-नारायण कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, व्यास, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और कल्कि। उक्त ग्रन्थमें ही अन्यत्र हयग्रीव, हरि, तथा हंस आदि अवतारोंका भी उल्लेख है। भगवानने जिस रूपसे गजेन्द्र का उद्धार किया था, वही 'हरि' अवतार के नामसे प्रसिद्ध है। यहाँ केवल नाम-गणना की गई है, ये अवतार इसी क्रमसे हुए थे, ऐसा नहीं समझना चाहिये। भिन्न-भिन्न कल्पों में इनका प्राकट्य होता है, इसलिये इन्हें कल्पावतार भी कहते हैं—'कल्पावतारा इत्येते कथिताः' (लघुभागवतामृत) इनके अतिरिक्त चौदह मन्वन्तरावतार भी होते हैं, जिनका वर्णन श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें तथा मार्कण्डेय आदि अन्यान्य पुराणोंमें भी है।

उपर्युक्त सभी अवतार चार श्रेणियोंमें विभक्त किये गये हैं—आवेश, प्राभव, वैभव तथा परावस्थ। आवेश अवतार वे हैं, जिनमें भगवत्-शक्तिका आवेश होता है। ऐसे अवतार हैं—सनकादि, नारद, पृथु और परशुराम। इनके विषयमें पद्मपुराणमें निम्नांकित वचन उपलब्ध होते हैं—

'आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः।'
'आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः।'
सम्प्रदास्यामि ते विप्र मच्छक्ति परमां शुभाम्।
आवेशितोऽथ मच्छक्त्वा जहि दुष्टान्नृपोत्तम॥'

(पद्म० उत्तर० २६८।४१,४२)

प्राभव अवतार दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जो अल्पकालमें ही अवतारका उद्देश्य पूरा करके अन्तर्हित हो जाते हैं, जैसे मोहिनी और हंस अवतार। केनोपनिषद खण्ड ३ के दूसरे मन्त्रमें जो ब्रह्मके यक्षावतारका वर्णन है, वह भी इसी कोटिका है। ४।४ के मन्त्रमें उसे बिजली चमकने तथा पलक मारनेके समान प्रकट हुआ बताया गया है—

यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा ३।

दूसरे प्रकारके प्राभव अवतार वे हैं, जो शास्त्र-प्रणयन और सदुपदेशके द्वारा दीर्घ-काल तक मनुष्योंको कृतार्थ करते रहते हैं, जैसे वेदव्यास, कपिल, दत्तात्रेय, धन्वन्तरि तथा

ऋषभदेव। जिन अवतारोंमें भगवान्के ऐश्वर्यकी अभिव्यक्ति होती है, उन्हें वैभव कहते हैं। पद्मपुराणमें मत्स्य आदि प्रसिद्ध दश अवतारोंको वैभवावतार बताया गया है।

जब साक्षात् भगवान् अपने सम्पूर्ण अंशसे आविर्भूत होते हैं, उस आविर्भावको परावस्थावतार या पूर्णावतार कहते हैं। इसमें षड्विध ऐश्वर्यकी पूर्णतया अभिव्यक्ति देखी जाती है। उपर्युक्त दस अवतारोंमें से श्री नृसिंह, श्रीराम तथा श्रीकृष्णको परावस्थ या पूर्णावतार ही माना गया है। जैसे एक दीपकसे दूसरा दीपक जला दिया जाए तो वह दूसरा दीपक भी पहलेकी ही भांति प्रकाश करता है, उसी प्रकार उपर्युक्त तीन अवतार पूर्णतम परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तिसे युक्त होनेके कारण साक्षात् परमात्मा ही माने गये हैं। निम्नांकित वचनसे भी इसी भावकी पुष्टि होती है—

नृसिंहरामकृष्णेषु षाड्गुण्यं परिकीर्तितम्।
परावस्था तु देवस्य दीपादुत्पन्नदीपवत्॥
(पद्म० आ० २५७।४२)

उपर्युक्त विवेचनसे भगवान् श्रीकृष्णका अवतार वैभवावतारोंमें परमोत्कृष्ट परावस्थ लीलावतार है।

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'।
(१।३।२८)

श्रीमद्भागवतके इस वचनसे भी उक्त कथनकी ही सिद्धि होती है।

'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।' (१०।१।६३)
'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।' (१०।१४।३२)
'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।' (१०।१४।५५)
'श्रीकृष्णाख्यं परं ब्रह्म (ब्रह्मवैवर्त-)

आदि सहस्रों शास्त्रीय वचन श्रीकृष्णकी परावस्था सूचित करने वाले हैं। श्रीकृष्ण नरके नित्य सखा, परम आश्रय हैं, इसीलिये वे नारायण कहे गये हैं। श्रीकृष्णका अवतार मानवतामें भगवत्ताकी, नरमें नारायणकी प्रतिष्ठा है। दैवी सम्पत्तियोंके उत्थान और आसुरी सम्पत्तियोंके पतनका जहां अमोघ प्रयत्न है, वहां श्रीकृष्ण अवतीर्ण होते हैं श्रीकृष्णका पूरा नाम श्रीकृष्णचन्द्र है। यह नाम तममें प्रकाशके, अज्ञानमें ज्ञानके तथा दैन्यमें दीनबन्धुत्वके अवतरणका सूचक है। भादोंकी अष्टमीको आधी रातके समय जब चारों ओर घोर अन्धकारका—तमोगुणका साम्राज्य छा रहा था, आकाशमें सहसा आलोकमय चन्द्रमाका और कंस-कारागारकी काल कोठरीमें सत्वमय श्रीकृष्णचन्द्रका प्राकट्य हुआ। यह जगत्के लिये अनेक जन्मोंके पश्चात् मिलने वाली संसिद्धि थी अथवा करुणामय भगवानकी अहैतुकी कृपा ? कौन कह सकता है।

वसुदेव और देवकीका संयोग योगकी अवस्थाका भी सूचक है। कारागार अन्तः-करणका प्रतीक है, जहां अनेक आसुरी वृत्तियाँ पहरा देती हैं। काम, क्रोध आदि असुर मनोभूमिमें भगवानका अवतरण नहीं होने देना चाहते, वे ब्रह्म साक्षात्कारमें बाधक हो रहे हैं फिर भी अभ्यास और वैराग्यके बलसे जीव (वसुदेव) जब समाधि (देवकी) से संयुक्त होता है तो उस अन्तःकरणके कारागृहमें समस्त आसुरीवृत्तियोंको मूर्छित—सुप्त करके श्रीकृष्ण उतर आते हैं। उस समय जीवको ब्रह्मका साक्षात्कार होने लगता हैं। वसुदेव तथा देवकी पूर्व जन्मके सुतपा और पृश्नि हैं—त्याग और तपस्याके प्रतीक हैं तथा भगवान् श्रीकृष्ण इसके सर्वोत्कृष्ट मधुर फल हैं। अथवा वे दोनों विवेक और विद्या हैं और श्रीकृष्ण परम ज्ञानमय ब्रह्म। जहाँ विवेक और विद्या जाग्रत् हैं, वहीं ब्रह्मका प्रकाश छा जाता है और जहाँ ब्रह्मका प्रकाश है, वहाँ तमका—तमोगुणका सर्वथा अभाव हो जाता है। सात्त्विक वृत्तियोंके अभिमानी देवता जाग्रत् रहकर भगवान्‌की स्तुति करते हैं और तामसी वृत्तियोंके अधिष्ठाता असुर मूर्छित रहते हैं—सो जाते हैं।

वसुदेव-देवकी उद्योग और चेष्टाके, पुरुषार्थ और शक्तिके भी सूचक हैं और श्रीकृष्ण का अवतार सफलता किंवा विजयका प्रतीक है।

प्रायः सभी अवतारोंके तथा विशेषतः श्रीकृष्णावतारके प्रधानतः तीन उद्देश्य हैं—साधु पुरुषोंकी रक्षा, दुष्टोंका विनाश तथा धर्मकी स्थापना। यदि हम भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टिपात करें तो वह इन्हीं तीन कार्योंसे ओत-प्रोत दिखाई देगा। दुष्टोंका विनाश, साधु पुरुषोंकी रक्षाके लिए ही किया जाता है। यद्यपि दुष्टजन समस्त संसारके लिये कण्टक रूप होते हैं, अतः उनके संहारसे सम्पूर्ण विश्वकी ही रक्षा होती है, तथापि यहाँ साधु-पुरुषोंकी रक्षा प्रधान है, क्योंकि दुष्टोंका साधु-पुरुषोंके प्रति अकारण वैर होता है। भर्तृहरिजी कहते हैं—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

'मृग तिनके खाकर जीवन-निर्वाह करते हैं, मछली पानी पीकर ही रह जाती है और साधु-पुरुष संतोष पर ही जीवन-धारण करते हैं, इनकी जीविका ऐसी नहीं है, जिससे किसी के साथ वैर विरोधका अवसर आये, फिर भी संसारमें व्याध, मल्लाह और चुगलखोर-ये तीन दुष्ट क्रमशः इन तीनोंके साथ अकारण वैर रखते हैं।'

साधु-पुरुषोंकी रक्षा भगवान किस प्रकार करते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए परम पूज्य स्वामी श्रीरामानुजाचार्य जी कहते हैं—साधु अर्थात मेरी शरणमें आये हुए वैष्णवाग्रगण्य भक्तजन'···मेरा दर्शन किये बिना अपने शरीरकी रक्षा आदि करनेमें भी असमर्थ हो एक क्षणको भी सहस्रों कल्पोंके समान मानते हुए सर्वथा शिथिल हो जायेंगे,

अतः उन्हें अपने स्वरूपके दर्शन, लीलाके अवलोकन तथा अपने साथ वार्तालाप आदिका अवसर देकर उनकी रक्षा करनी है, इसलिये मैं अवतार धारण करता हूं। दुष्टोंका विनाश भगवान कहीं अपने ही हाथसे करते हैं और कहीं दूसरोंसे करवाते हैं। कहीं-कहीं दुष्टोंका दमन करके उनके दुष्ट स्वभावको दूर कर देते हैं। कंस-शिशुपाल आदिका वध उन्होंने अपने ही हाथोंसे किया, काल-यवन और जरासन्ध आदिका वध दूसरोंसे कराया तथा कालिय नागका दमन करके उसके दुष्ट स्वभावको दूर कर दिया।

भगवानने पारलौकिक सुख, निश्रेयस अथवा मोक्षकी सिद्धिके लिये तो गीता-धर्म का उपदेश किया, उसकी स्थापनाकी और उसका प्रचार एवं प्रसार भी किया कराया। तथा लोकमें भी सुखशान्ति कायम रहे, शास्त्रीय धर्मके अनुष्ठानमें वाधा न आवे, इसके लिये उन्होंने धर्म-विरोधियोंका, अत्याचारी दुष्टोंका संहार कर डाला। अधर्मकी सत्ता मिटाकर धर्म-राज्यकी स्थापना की। इस प्रकार श्रीकृष्णावतारके ये तीन प्रयोजन हुए। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध अध्याय ८ में कुन्ती माताने भगवानके अवतारके अनेक प्रयोजन वतलाये हैं, उनमें एक विशेष प्रयोजन यह भी है कि जो लोग अज्ञान, कामना और कर्मोंके बन्धनमें बंधकर क्लेश उठा रहे हैं, वे लोग श्रवण और स्मरण करने योग्य भगवान की लीलाओंका चिन्तन करके संसार-सागरसे पार हो जाएं, इस उद्देश्यसे लीलाएं करने के लिये भगवान्का अवतार होता है। इसके सिवा, शरणागत पुरुषोंको आनन्द-प्रदान, जगत का कल्याण, संसारकी रक्षा तथा अपने मार्ग (वैष्णव धर्म) का पालन करनेके लिये भी श्रीकृष्णका अवतार हुआ था—ऐसा बताया गया है। परम ज्ञानी शुकदेवजी श्रीकृष्णावतार का प्रयोजन वतलाते हुए कहते हैं—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(१०।२६।१४)

'राजन् परीक्षित! भगवान श्रीकृष्ण अविनाशी, अप्रमेय निर्गुण तथा गुणस्वरूप हैं, उनका अवतार मनुष्योंका परम कल्याण साधन करनेके लिये ही हुआ है।

परमपूज्य श्री वल्लभाचार्यजी महाराजकी दृष्टिमें भगवान्के अवतारका एकमात्र यही मुख्य प्रयोजन है, वे कहते हैं प्राणिमात्रको मोक्ष देनेके लिए ही भगवान्का अवतार हुआ है, अन्यथा नहीं होता; क्योंकि इसके सिवा दूसरा कोई ऐसा प्रयोजन नहीं है, जो असाधारण कोटिका हो। पृथ्वीका भार उतारना आदि कार्य तो विना अवतार लिये भी (संकल्प मात्र से) हो सकता था।

●

'याचना'

प्रणेता :—परमेश्वर राय राजेश,

मन को मेरे गति देता चल,
ओ मेरे मन के रखवारा!

जैसे अब तक तूने मेरे
घर आँगन का साज सजाया,
वैसे ही मैंने तेरे
चरणों पर निज सर्वस्व लुटाया;

मेरे मन को भी लेता चल,
मेरा मन तो है वनजारा!

जब तुम विहँसे, मेरे अन्तर-
में भावों की कोयल बोली,
रागों की कलियाँ खिल आयीं,
नव कल्पना-मधुकरी डोली,

कवि ने गुन-गुन कर कुछ गाया,
उमड़ पड़ी गङ्गा की धारा!

इन छन्दों की यति में, गति में,
तेरे भाव मचलते रहते,
तेरी सुधि के तुङ्ग शिखर से,
रस के निर्झर झरते रहते,

जब जब तेरा चरण निहारा,
तुमने हँस-हँस मुझे बुलारा।

शून्य क्षितिज में आँख उठाकर
जब मैं तुमको देखा करता,
तेरी मोहकता आ जाती,
छबि का रस नयनों में भरता,

मेरी मति में रति है तेरी,
प्राणों में है स्वप्न तुम्हारा!

श्रीकृष्णद्वारा उपदिष्ट विशेष धर्म

एक श्रीकृष्ण प्रेमी

गीतामें भगवानने वर्णधर्मका भी वर्णन किया है। इसके सिवा उन्होंने जो भिन्न-भिन्न निष्ठाओं तथा उनके विशेप-विशेप प्रकारोंका वर्णन किया है, वह सव भिन्न-भिन्न अधिकारीके लिये है, इस लिए उसे विशेष धर्म भी कहा जा सकता है। श्रीमद्‌भागवतके एकादश स्कन्धमें उन्होंने सामान्य और विशेप सभी प्रकारके धर्मोंका वर्णन किया है। दशमस्कन्धके २९ वें अध्यायमें उनके द्वारा सभी धर्मका प्रतिपादन हुआ है। महाभारतमें भी उनके श्रीमुखसे निकले हुए अनेक उपदेश हैं। भीष्मजीने जिस धर्मका उपदेश किया है वह सब उन्होंने भगवान्‌की आज्ञासे ही किया है। भगवान्‌ने उसका अनुमोदन किया है, अतः वह सब भी भगवान्‌का ही उपदेश समझना चाहिए। उसमें राजधर्म, आपद्धर्म और मोक्षधर्मके विशेप-विशेष स्वरूपोंका विस्तृत वर्णन है। महाभारत अनुशासनपर्वमें भगवान्‌ने ब्राह्मण महिमाका प्रतिपादन किया है। अन्यत्र युद्ध नीतिके सम्बन्धमें भी उनके विचार प्राप्त होते हैं। आश्वमेधिकपर्वमें उन्होंने अर्जुनके प्रति अनुगीताका उपदेश किया है, जिसमें सामान्य विशेष सभी प्रकारके धर्मोंका विस्तृत विवेचन है।

श्रीकृष्णके द्वारा स्वयं आचरितधर्म—

श्रीकृष्णके द्वारा स्वयम् आचरणमें लाये जाने वाले धर्मोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे धर्म है, जिन्हें उन्होंने अवतार कालमें अपनाया था। दूसरे वे हैं, जिन्हें वे सदा धारण करते हैं। इन सव धर्मोंका अनुशीलन करनेके लिए हमें श्रीकृष्णके सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टिपात करना होगा।

भगवान् श्रीकृष्णका लालन-पालन वचपनसे ही व्रजके ग्वालोंमें हुआ। वे अपने ऐश्वर्यको, अपनी महत्ताको छिपाकर ग्वाल-वालोंमें और गोप-गोपियोंमें उन्हींके समान होकर रहते थे। वे उनके सखा, उनके भाई और उनके सगे पुत्रका सा ही वर्ताव करते थे।

उनका व्यवहार इतना सरल, सुन्दर, अभिमान-शून्य और उदार था कि अपने पराये सभी उन्हें अपना सगा ही मानते थे। वे ब्रजके स्त्री-पुरुष, बालक, पशु-पक्षी, जड़-चेतन सभीको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थे। उनका यह व्यावहारिक धर्म सभी मनुष्योंके लिये अनुकरणीय है।

उन्होंने लोकमहेश्वर होकर भी गरीबोंकी झोपड़ीमें रहना पसन्द किया। दीनोंमें रहकर दीन-बन्धुताका परिचय दिया। छोटी जातिके लोगोंके साथ रहनेमें उन्हें कोई संकोच नहीं था। वे धन, जाति, गुण तथा कुलको लेकर व्यर्थका अभिमान करनेवालोंमें नहीं थे। उन्होंने अभिमानियोंका सदा ही मान-मर्दन किया था। वे दूसरोंका दुख देख नहीं सकते थे, अपने आश्रितोंकी रक्षाके लिए आग और पानीमें कूद पड़ते थे। उन्होंने दावानल बुझाया था, वे विषसे भरे हुए कालियदहमें कूद पड़े थे, उन्होंने गोवर्धन पर्वतको सातदिनों तक छत्रकी भांति उठा रखा था. परोपकार ही उनके जीवनका व्रत था। प्रेम और आनन्दके तो वे स्वरूप ही थे। उन्होंने सबका भला किया, सबको प्रेम दिया और सबको प्रसन्न रखा। यही धर्मका सच्चा आचरण है जो मानवको देवता बनाता है।

श्रीकृष्णने गौ चराकर हमारे सामने गोपालनका आदर्श रखा। कंसके डरसे भागे हुए देश और जाति बन्धुओंको देश-देशान्तरोंसे बुलवाकर सबको आश्रय दिया, अपने साथ रखा और उनकी यथोचित सेवा करके उन्हें सर्वथा सुख पहुँचानेकी चेष्टा की। वे माता-पिताकी सेवा, ब्राह्मणोंका आदर, गुरुकी सेवा, मित्रकी सहायता, बड़े भाई तथा अन्यान्य गुरुजनोंके साथ विनययुक्त वर्ताव तथा दुःखमें पड़े हुए लोगोंको दुःखसे छुड़ानेका निरन्तर प्रयत्न करते थे। श्रीकृष्ण प्रेमके भूखे थे। उन्होंने दुर्योधनकी मेवा ठुकराकर विदुरका साग अपनाया, अभिमानी राजा दुर्योधनकी उपेक्षा करके वनवासी पाण्डवोंका पक्ष लिया। द्रौपदीके प्रेममें तो आप बिके हुए थे, उसने जब कभी पुकारा आप पांव पयादे दौड़कर जा पहुँचे।

श्रीमद्भागवत-दशम स्कन्धके ७० वें अध्यायमें श्रीकृष्णकी दिनचर्याका बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। वे सवेरे ब्राह्म मुहूर्तमें उठते, अपने परमात्मस्वरूपका ध्यान करते, फिर पवित्र जलसे नहाते, सन्ध्या-वन्दन करते, हवन करते और गायत्री-मन्त्र जपते थे। यह सब काम सूर्योदयसे पहले समाप्त हो जाता था। सूर्योदय होनेपर सूर्योपस्थान करके देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करते। फिर कुलके बड़े-बूढ़े तथा ब्राह्मणोंका पूजन-यथायोग्य सत्कार करते। इसके बाद वे पहले पहल बिआई हुई, सीधी, शांत गौओंका बछड़ों सहित दान करते थे। उन गौओंके सींगोंमें सोना, खुरोंमें चाँदी मढ़ी जाती, उन्हें सुन्दर वस्त्र ओढ़ाकर मोतियोंकी माला पहना दी जाती थी। इस प्रकार प्रतिदिन सहस्र सहस्र गौओंका वे दान करते थे। तत्पश्चात् गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध, गुरुजन एवं समस्त प्राणियोंको प्रणाम

करके वे माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे। इसके बाद सुन्दर वस्त्र-आभूषणादि पहनकर गाय, बैल ब्राह्मण तथा देव प्रतिमाओंका दर्शन करते। अन्तःपुर, नगर तथा प्रान्तके सभी निवासियोंकी इच्छायें पूर्ण करते। उत्तम वस्तुयें पहले दीन जनोंको देते फिर स्वजन सम्बन्धी, मन्त्री तथा रानियोंको बांटते और इनसे बची हुई स्वयं अपने काममें लाते थे।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। यदि आज कलकी दृष्टिसे विचार करें तो श्रीकृष्ण सच्चे अर्थमें साम्यवादी थे। उनके साम्यवादकी रूप-रेखा आजके साम्यवादसे अवश्य ही भिन्न थी, पर आज कल साम्यवादके जो लाभ,अच्छे परिणाम बताये जाते हैं, वे सभी भगवान् श्रीकृष्णके साम्यवादमें अधिक अच्छे रूपमें सुलभ थे। उन्होंने जांत-पात वर्णाश्रम-मर्यादाकी रक्षाकी, धर्म और ईश्वरकी सेवा सिखायी और सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़ा। वे सबको धार्मिक स्वतन्त्रता देना चाहते थे। अन्न-वस्त्रका किसीको भी कष्ट न हो, सब सुखी रहें, सबको शान्ति मिले, सभी आरामसे रहें—इसकी ओर उनका पूर्ण ध्यान था। जिनसे जगत्का कल्याण होता, ऐसे लोगोंके प्रति उनका बड़ा आदर था। गौ से सम्पूर्ण जगत्का कल्याण होता है, दूध और अन्न गौ माताकी कृपासे ही सुलभ हैं, इस लिए गौ रक्षाकी ओर उनका विशेष झुकाव था। संत, तपस्वी, विद्वान ब्राह्मण और ऋषि-महर्षि विश्व-कल्याणकी योजनामें सहायक थे, इस कारण उनका वे बहुत आदर करते थे। उनके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अत्याचारी शासकोंकी जड़ उखाड़ देना चाहते थे। उनके समयमें राजा लोग प्रजाका रक्त चूसकर अपना खजाना भरनेमें लगे थे। प्रजाके अधिकांश मनुष्य जंगलोंमें झोंपड़े डालकर रहते थे, उन पर राजाओंकी ओरसे टैक्स इतना बढ़ाकर रख दिया गया था कि वे पनप नहीं पाते थे। बाग, बगीचे, फल, फूल सब पर राजाओंका अधिकार था, प्रजा उन्हें छू भी नहीं पाती थी। उन्हींकी गाढ़ी कमाई पर राजा लोग मौज उड़ाते थे, बिना अपराधके ही वे प्रजाको मृत्युसे भी कठोर यन्त्रणायें देते और अपना आतंक फैलाये रखते थे। नर-हत्याका उस समय कोई मूल्य नहीं था। राजा और उनके कर्मचारी ही प्रजाके भाग्यविधाता थे। उनकी मर्जी ही सब कुछ थी। पीड़ित प्रजाकी पुकार उनके पत्थरके बने हुए दरवाजोंपर ही टकराकर रह जाती थी। उनका हृदय भी पत्थरका हो चुका था, वे प्रजाके आँसुओंसे मनोरंजन करते उनकी कष्ट-कथा सुनकर अट्टहास करते।

भगवान् श्रीकृष्णने राजाओंकी उच्छृंखलता और प्रजाकी दयनीयताको भली भांति देखा और उसे आसुरी सत्ताकी, शोषक साम्राज्यकी जड़ उखाड़ फेंकनेके लिए दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने कोटि-कोटि गोपोंका संगठन किया, जो नारायणी सेनाके नामसे प्रसिद्ध था। उन्होंने उसकी सहायतासे जरासन्ध, कालयवन, नरकासुर, पौण्ड्रक, शाल्व, दन्तवक्त्र और विदूरथ आदि राजाओंसे लोहा लिया। और परम पुरुषार्थ तथा पराक्रम द्वारा धर्म-राज्यकी स्थापना की। जो प्रजाके शोषक थे, उन्हें इस संसारसे विदा होना पड़ा। प्रजामें चैनकी

वंशी बजने लगी। प्रजाके हितके लिए वे बड़ेसे बड़ा त्याग करनेको उत्सुक थे। उन्होंने जब देखा कि मेरी नारायणी सेना और यदुवंशी कुमारोंके रहनेसे संसारमें फिर अशान्ति फैलेगी, तो महाभारतमें नारायणी सेनाको कौरवोंकी सहायतामें दे दिया और स्वयं अर्जुनके द्वारा उसका वध कराया तथा गृह-कलहके द्वारा यदुवंशियोंको भी इस संसारसे विदा कर दिया। इस प्रकार श्रीकृष्णने देश और समाजका उद्धार किया। बहुत-सी कुरीतियोंको भी उन्होंने दूर किया। इन्द्र-यागके नामपर जो पशु वलि होती थी, उसे गोवर्धन-पूजनके द्वारा बन्द करवाया तथा चीर-हरणकी अलौकिक लीला द्वारा नग्न-स्नानकी कुप्रथाको रोका।

इस प्रकार श्रीकृष्णके धार्मिक जीवनपर संक्षेपसे प्रकाश डाला गया, अब उन धर्मोंका यत्किन्चित् उल्लेख किया जाता है, जिनको वे भक्तोंके पुकारनेपर आज भी करते हैं और जिनके लिए उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीतामें घोषणा भी की है।

अनन्य भक्तोंका योगक्षेम वहन—

भगवान् श्रीकृष्णमें जो अनन्य प्रेम रखते हैं, सदा उन्हींका स्मरण और भजन करते हैं, उनका योग-क्षेम वे स्वयं ही वहन करते हैं। उन्हें जिस वस्तुकी कमी है, उसे भगवान् स्वयं पहुँचाते हैं और जो वस्तु उन भक्तोंके पास है, उसकी भगवान् निरन्तर रक्षा करते है। गीतामें उन्होंने कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो, मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

अनन्य भक्तोंको भगवान्‌का सुलभ होना—

जो प्रतिदिन अनन्य चित्तसे भगवान् श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करता है, वह भक्ति-योगी पुरुष भगवान्‌से नित्य संयुक्त है, अतः भगवान् उसके लिए सुलभ हैं। वास्तवमें हमारी स्थिति वहीं रहती है, जहाँ हमारा मन होता है, जिसके मनकी स्थिति भगवान्‌में है, उसे भगवान्‌की प्राप्तिमें क्या संदेह है, वह तो भगवत्प्राप्त है ही। यही बात भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं :—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

अनन्य भक्तको ज्ञान, दर्शन और सायुज्यदान—

जो भगवान् श्रीकृष्णको अनन्य भावसे भजता है, उसे भगवान् अपने तत्त्वका ज्ञान कराते हैं—" भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।" इत्यादि वचनों द्वारा इस बातकी पुष्टि होती है। इतना ही नहीं, वे

अपने सगुण, साकार, दिव्य माधुर्य-सम्पन्न, परम मङ्गलमय विग्रहका प्रत्यक्ष दर्शन भी देते हैं, जैसा कि उन्होंने अर्जुनको अपने विश्वरूपका, जिसके लिये देवता भी तरसते हैं, दर्शन कराया था। दर्शनके बाद भक्तकी इच्छा और योग्यताके अनुसार भगवान् उसे अपने स्वरूपमें मिला भी लेते हैं। भक्त अपने आत्मस्वरूपसे भगवानमें प्रवेश कर जाता है। जैसा कि भगवानने कहा है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्यअहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

भक्तकी रक्षा—

भगवान् बड़े दयालु हैं, वे जीवोंको अपनानेके लिए सदा उत्सुक रहते हैं, वे यह नहीं देखते कि वह शुद्ध हृदय लेकर आया है या अशुद्ध। भगवान्के भजनकी ओर उसका झुकाव हुआ है, यही बहुत है। भगवान् तो यहाँ तक कहते हैं कि अत्यन्त दुराचारी मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगे तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने अब उत्तम निश्चय किया है, अच्छे कार्य और विचारको अपनाया है, अब वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा, उसे सनातन शान्ति भी प्राप्त होगी। अर्जुन! तुम इस बातको प्रतिज्ञा पूर्वक समझलो—मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता—"न मे भक्तः प्रणश्यति।" मैं सदा उसकी रक्षा करता हूँ।

भगवद्-भक्तका भवसागरसे उद्धार—

जो भगवान्में मन लगाते हैं, सदा उन्हींका चिन्तन और स्मरण करते हैं उनका भगवान् शीघ्र ही मृत्युमय संसार-सागरसे उद्धार कर देते हैं। भगवान्का कथन है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

सम्पूर्ण लोकोंके प्रति सौहार्द—

भगवान् श्रीकृष्ण ही यज्ञ और तपके भोक्ता हैं, वे ही सम्पूर्ण लोकोंके महेश्वर हैं, ऐसे होते हुए भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे सम्पूर्ण जीवोंके सुहृद हैं, माता, पिता, गुरु तथा मित्रकी भांति स्नेह करने तथा हित चाहने वाले हैं, जो उनके इस स्वरूपको ठीक-ठीक समझ लेता है, उनके सौहार्द पर श्रद्धा और विश्वास करता है, वह शांतिको प्राप्त होता है। भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसा सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

शरणागतकी रक्षा—

जो भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें चला जाता है, अनन्य गति होकर सर्वात्मना उन्हीं पर अपनेको निर्भर कर देता है, उसकी वे हर तरहसे रक्षा करते हैं। शरणमें आनेपर ही रक्षा करते हों, ऐसी बात नहीं है, वे शरणमें लेनेके लिए सदा उत्सुक रहते हैं, वे जीवोंको बुलाते हैं, टेरतेहैं—पुकार-पुकारकर कहते हैं—यदि परम शान्ति और सुख चाहते हों तो भगवान्की शरणमें जाओ—'तमेव शरणं गच्छ।' वे स्पष्ट रूपसे घोषित करते हैं—"सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें आ जावो, मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूंगा।' इतना आश्वासन, इतना भरोसा देने वाला भगवान् श्रीकृष्णके सिवा दूसरा कौन है ? सबका उद्धार करना, सबको सुख पहुँचाना श्रीकृष्णका स्वभाव है, धर्म है। उक्त सभी धर्मोंका आदर्श उन्होंने जगत्के सामने रक्खा। कहीं आचरण द्वारा और कहीं उपदेश द्वारा अपने अभिमत-धर्मकी स्थापना की। जो लोग धर्मके विरोधी थे, धर्म का मूलोच्छेदन करना चाहते थे, उन सबका उन्होंने संहार कर डाला। धर्मके कण्टकोंको उखाड़ फेंका। धर्मके पालकोंकी रक्षा की, उनकी कही हुई गीता आज पांच हजार वर्षोंसे इस विश्वमें धर्मकी ध्वजा फहराती है, गीताका आश्रय लेकर असंख्य प्राणी धर्मके मार्गपर आये और आ रहे हैं। इसके द्वारा अब तक असंख्य प्राणियोंका उद्धार हो चुका है। श्रीमद्भागवतमें दिये हुए उनके दिव्य उपदेश कितने ही मनुष्योंके जीवन सुधार रहे हैं। नाना प्रकारके योगोंका उपदेश देकर उन्होंने योगेश्वरकी पदवी प्राप्त की है। संसार उन्हें सर्वोद्धारक भगवान्के रूपमें तो देखता ही है, धर्म स्थापनाके नाते उन्हें गुरु भी मानता हैं। श्रीकृष्णके सिवा, दूसरा कोई भावनाका ऐसा अवतार नहीं हुआ, जिसे 'जगद्गुरु" की उपाधि मिली हो।

भगवान अघासुरके शत्रु हैं, यह जानकर कितने ही मनुष्य पापसे हट गये। उन्होंने दुष्ट काली नागका मर्दन किया था, इस बातका पता पाकर बहुतोंने दुष्टताकी प्रवृत्ति छोड़ दी। पूतनाकी जो दुर्गति हुई थी, उसका स्मरण करके जादू टोना सीखने वाली डायनें काँप उठी और जन-समाजने योगिनी, भूतनी डाकिनी शाकिनी आदिका पूजना छोड़ दिया। उनके गोवर्धनके कार्यसे भारतके पशु-धन और खेतीमें वृद्धि हुई।

भक्तोंको भगवान् अपनाते हैं, उनके सखा, पुत्र और प्रियतम भी बन जाते हैं। इस बातको जानकर संसारके नर-नारी भगवद्भजनमें प्रवृत्त हुए अधर्मका राज्य उठ गया। धर्मका राज्य कायम हुआ। यह सब भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा होनेवाली धर्म-स्थापनाका दिग्दर्शन मात्र है। उन्होंने अपने जीवनमें जो कुछ कहा, जो कुछ किया तथा अपने सहयोगियोंसे जो कुछ कराया, वह सब उनकी धर्म-स्थापनाका ही अङ्ग या उपक्रम था। हम श्रीकृष्णके जीवन वृत्तोंको जितने ही मनोयोगके साथ पढ़ेगें, विचारेगे, उतना ही यह रहस्य अधिकतर स्पष्ट होता जायगा। ●

चेतना क्या है ?

—श्री अरविन्द

•

मेरी अनुभूतिके अनुसार चेतना कोई ऐसा दृश्य व्यापार नहीं, जो प्राकृतिक शक्तियोंके संपर्क द्वारा उत्पन्न व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओंपर निर्भर करता हो, जिसका यह अर्थ हुआ कि वह इन प्रतिक्रियाओंके देखने अथवा समझनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि ऐसा होता तो जब व्यक्तित्व निश्चल-नीरव तथा गतिहीन हो जाता है और कोई प्रतिक्रियायें नहीं दिखलाता, तब चूंकि देखने अथवा समझनेकी कोई क्रिया नहीं होंती, वहाँ कोई चेतना नहीं रहेगी। यह योगकी कुछ मूलभूत अनुभूतियोंका खण्डन करता है, जैसे कि एक अनन्ततः फैली हुई निश्चल-नीरव तथा गति विहीन चेतना, जो व्यक्तित्वपर निर्भर नहीं करती वरन् अवैयक्तिक तथा वैश्व है, जो स्पर्शोंको देखने या समझनेकी क्रिया नहीं करती वरन् गतिहीन आत्मचेतन है, प्रतिक्रियाओंपर निर्भर नहीं है, किन्तु जब कोई प्रतिक्रिया नहीं हो रही है तब भी अपने-आपमें सतत है। आत्ममुखी चेतना स्वयं चेतनाकी एक रूप-आकृति है जो अनित्य अभिव्यक्त व्यक्तित्वकी क्रियायें नहीं अपितु सत्तामें, आत्मामें, पुरुषमें एक अन्तर्जातशक्ति है।

चेतना अस्तित्वके भीतर एक अन्तर्जात सत्य है। जब यह सतहपर सक्रिय नहीं रहती, किन्तु निश्चल-नीरव तथा गतिहीन होती है तब भी यह विद्यमान रहती है; जब यह सतहपर दिखलायी नहीं पड़ती, वाह्य वस्तुओंपर कोई प्रतिक्रिया नहीं करती अथवा उनके लिये संवेद्य नहीं होती, वरन् आत्मस्थ रहती और भीतर ही सक्रिय या निष्क्रिय रहती है तब भी यह वहां होती है; जब यह विलकुल अनुपस्थित प्रतीत होती तथा हमारी दृष्टिमें सत्ता, चेतनाहीन और प्राणहीन प्रतीत होती है, तब भी यह वहाँ होती है।

चेतना केवल अपनेको तथा वस्तुओंको जाननेकी शक्ति नहीं, यह एक गत्यात्मक तथा सर्जनात्मक ऊर्जा है अथवा यह ऊर्जा इसके भीतर है। यह अपनी प्रतिक्रियायें निश्चित कर सकती है अथवा प्रतिक्रियायोंसे अपनेको अलगाकर रख सकती है; यह केवल शक्तियोंका प्रत्युत्तर ही नहीं दे सकती, वरन् शक्तियोंका सृजन कर सकती अथवा उन्हें अपने भीतरसे निकालकर बाहर ला सकती है। चेतना चित् है किन्तु चित्-शक्ति भी है।

चेतनासे साधारणतया लोग मन समझते हैं, किंतु मानसिक चेतना केवल मानव-पहुँचका क्षेत्र है जो चेतनाके सभी संभाव्य क्षेत्रोंका समापन नहीं कर देता, जैसे कि मानव दृष्टि रंगके सभी क्रमोंका अथवा मानव श्रुति सभी प्रकारकी ध्वनियोंके क्रमका समापन नहीं कर देती—क्योंकि बहुत कुछ ऊपर तथा नीचे है जो मनुष्यके लिये अदृश्य तथा अश्राव्य होता है। सो, मानव-पहुँचके क्षेत्रके ऊपर तथा नीचे चेतनाके बहुतसे क्रम हैं, जिससे सामान्य मानवका कोई संपर्क नहीं होता और वे उसे चेतनाहीन—अतिमानसिक या अधिमानसिक और अवमानसिक क्रम प्रतीत होते हैं।

जब याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ब्राह्मी स्थितिमें कोई चेतना नहीं होती तब वे उस चेतनाके विषयमें कह रहे होते हैं जैसा कि मनुष्य उसे जानता है। ब्राह्मी स्थिति परम अस्तित्वकी स्थिति है, जो अपनेको चरम रूपसे जानती है, आत्मप्रकाश है,—यह सच्चिदानन्द, सत्-चित्-आनन्द है। यदि उसे परसे परे परात्परम् कहा जाय तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह अनस्तित्व या चेतनाविहीनताकी अवस्था है, वरन् वह वैश्व जीवन और वैश्व चेतनाके उच्चतम आध्यात्मिक स्तरसे भी ऊपर है (ऋग्वेदकी दीप्त पहेली जैसी भाषामें, इसकी नींव ऊपर है—"उपरि बुध्ना एषम्")। जैसा कि चीनियोंके ताओ तथा बौद्धोंके शून्यके वर्णनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैसा अनस्तित्व है जिसमें सब कुछ है, वैसा ही अर्थ चेतनाके अभावका यहाँ भी है। अतिचेतना तथा अवचेतना मात्र सापेक्ष शब्द हैं; ज्यों-ज्यों हम चेतनामें ऊपर उठते है, हम देखते हैं कि वह हमारी अबतककी प्राप्त उच्चतम चेतनासे अधिक महान् है और इसलिये हमारी सामान्य अवस्थामें हमारे लिये अगम्य है तथा, यदि हम नीचे अवचेतनाके भीतर उतरें तो वहाँ हम एक ऐसी चेतना पाते हैं जो हमारी मानसिक चेतनाकी निम्नतम सीमासे कुछ और ही प्रकारकी है और इसलिये सामान्यतः हमारे लिये अगम्य है। स्वयं अचेतना एक अन्तर्वलित अवस्था है जो ताओ एवं शून्यकी तरह, यद्यपि एक भिन्न ढंगसे, सभी वस्तुएँ अपने अंदर दबी रूपमें धारण करती है जिसमें ऊपर या अंदरसे दबाव पड़नेपर वे सभी इसमेंसे उद्भूत हो सकें—"एक उनींदी शक्तिसे युक्त, एक जड़ आत्मन्।"

चेतनाके क्रम वैश्व स्थितियाँ हैं, जो आत्मपरक व्यक्तित्वके दृष्टिकोणपर निर्भर नहीं करते; बल्कि आत्मपरक व्यक्तित्वका दृष्टिकोण चेतनाके उस क्रम द्वारा निर्धारित होता है जिसके भीतर वह अपने विशिष्ट स्वभाव अथवा विकासक्रममें अपनी अवस्था द्वारा गठित होता है।

यह स्पष्ट है कि चेतनाका अर्थ है कोई ऐसी वस्तु जो सारतः सर्वदा एक ही रहती है किन्तु जो स्थिति, दशा एवं क्रियामें परिवर्तनशील है, जिसमें कुछ क्रमों अथवा अवस्थाओंमें वे क्रियायें, जिन्हें हम चेतना कहते हैं, या तो दबी अवस्थामें या अव्यवस्थित अथवा दूसरे प्रकारसे व्यवस्थित अवस्थामें रह सकती हैं; जब कि दूसरी स्थितियोंमें कुछ अन्य क्रियायें अभिव्यक्त हो सकती हैं जो हमारे अन्दर दबी पड़ी हैं, अव्यवस्थित या सुप्त हैं

हैं या कम पूर्णताके साथ अभिव्यक्त हैं, जो हमारी उच्चतम मानसिक सीमासे ऊपरके क्रमोंसे कम पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त हैं, कम तीव्र हैं, कम विस्तृत तथा सशक्त हैं।

चेतनाको केन्द्रित करनेवाले बलको विभिन्न प्रकारसे वितरित करनेके लिये एक स्पष्ट "मैं की आवश्यकता नहीं है,—जहाँ कहीं भी बल दिया जाता है वहीं "मैं" उसके साथ लग जाता है, इसी कारण व्यक्ति अपनेको मानसिक सत्ता या शारीरिक सत्ता या जो कुछ भी हो, समझने लगता है। मेरे भीतरकी चेतना, बिना उस चक्केपर वाली हदसे अधिक मूल्यांकित तथा विघ्न डालनेवाली मक्खी "मैं" की सहायताके लिये गये हुए, अपने बलको इधर या उधर वितरित कर सकती है—यह अन्य सबकुछको कुछ समयके लिये पीछे या ऊपर रखकर शरीरमें उतर सकती है और वहां शारीरिक प्रकृतिमें क्रिया कर सकती है अथवा यह मनसे ऊपरके स्तरपर जा सकती है तथा मन, प्राण और शरीरके ऊपर स्थित होकर इन्हें अपने ही करणस्वरूप निम्न रूपोंकी भांति देख सकती हैं; या इन्हें बिलकुल नहीं भी देख सकती तथा अभेद आत्मामें निमग्न रह सकती हैं अथवा यह अपनेको सक्रिय गत्यात्मक चेतनामें प्रक्षिप्त कर सकती है और उसके साथ तद्रूप हो जा सकती है अथवा अनगिनत बहुत सारी वस्तुएं कर सकती है। वास्तविक "मैं"—यदि तुम इस शब्दका व्यवहार करना चाहते हो—वह 'स्पष्ट व्यष्टि", अर्थात्, एक स्पष्ट कटा-छँटा सीमित भेदकारी अहंकार नहीं है, यह विश्वके जितना विशाल तथा उससे भी अधिक विशालतर है और अपनेमें विश्वको धारण कर सकती है, किन्तु वह अहंकार नहीं है, वह आत्मन् है।

चेतना एक मूलभूत वस्तु है—अस्तित्वके भीतरकी मूलभूत वस्तु—यह चेतनाकी ही ऊर्जा, वेग, गति है जो विश्व तथा इसके अंदर जो कुछ है उसे सृष्ट करती है—केवल बृहत् ब्रह्माण्ड ही नहीं किन्तु क्षुद्र मानव भी मात्र अपनेको गठित करती हुई चेतना ही है। जैसे कि, जब चेतना अपनी गतिमें, वरन् गतिके एक विशेष बलमें, क्रिया करती हुई अपनेको भूल जाती है तब यह "चेतनाहीन" प्रतीत होनेवाली ऊर्जा बन जाती है; जब यह अपनेको रूपके भीतर भूल जाती है तब यह एलेक्ट्रोन, परमाणु, भौतिक पदार्थ बन जाती है। वस्तुतः यह अब भी चेतना ही होती है जो ऊर्जाके भीतर क्रिया करती तथा रूप एवं रूपके विकासको निश्चित करती है। जब यह अपनेको धीरे धीरे विकास-क्रमसे, जड़तत्वके भीतरसे, किंतु अभी भी रूपके भीतर ही, मुक्त करना चाहती है, तब यह प्राणके रूपमें, पशुके रूपमें, मनुष्यके रूपमें निकलती है और यह अपने अंतर्वलनके भीतरसे और भी विकसती जा सकती है तथा मनुष्यसे अधिक कुछ हो जा सकती है। यदि तुम इसे भली भांति समझ पाओ, तब आगे यह समझनेमें कठिनाई नहीं होगी कि यह आत्मपरक रूपसे अपनेको एक शारीरिक सत्ता, एक प्राणिक सत्ता, एक मानसिक, एक अन्तरात्मिक चेतनाके रूपमें रूपायित कर सकती है—ये सभी मनुष्यमें वर्त्तमान हैं, किंतु क्योंकि ये सभी बाह्य चेतनामें एक दूसरेके साथ मिले पड़े हैं और उनकी वास्तविक स्थिति आंतरिक सत्तामें होती है, उसमें उनका पूर्ण बोध तभी हो सकता है जब हम चेतनाके उस मूल सीमा

बनानेवाले बलको, जो हमें वाह्य सत्तामें रहनेको वाध्य करता है, मुक्त कर दें और आंतर सत्तामें जाग्रत हों तथा उसके भीतर केन्द्रित हो जाय। क्योंकि हमारे भीतरकी चेतनाको अपने वाह्य संकेद्रण या वल द्वारा, इन सभी वस्तुओंको पीछे—एक दीवार या पर्देके पीछे डाल देना होता है, उसे इस दीवार या पर्देको गिरा देना तथा अपने बलमें अस्तित्वके इन भीतरी भागोंमें लौट आना होता है— इसीको हम लोग अन्तरमें वास करना कहते हैं तब हमारी वाह्य सत्ता हमें छोटी तथा सतही लगने लगती है, हम भीतरके विशाल तथा अक्षय्य राज्यके प्रति सचेतन हो जाते हैं अथवा हो जा सकते हैं। उसी तरह चेतनाने हमारे भीतर अंतरात्मा द्वारा आधृत मन, प्राण तथा शरीरके निम्न स्तरों तथा उच्चतर स्तरों, जो आध्यात्मिक राज्योंको धारित करते हैं, जहां जीव सर्वदा स्वतंत्र तथा असीम है, के बीच एक ढक्कन या आवरण डाललिया है और वह इस ढक्कन या आवरणको तोड़ या खोल सकता है तथा वहां आरोहण कर सकता है और मुक्त विशाल तथा दीप्त आत्मन् हो जा सकता है अथवा अन्यथा निम्नतर प्रकृतिके भीतर उच्चतर चेतनाका प्रभाव, विम्ब, अंततः उपस्थिति तथा शक्ति तक उतार ला सकता है।

तो, यही है चेतना—यह खण्डोंसे वनी हुई नहीं है, यह अस्तित्वका मूल तत्व है और कोई खण्ड जो यह अभिव्यक्त करना चाहती है उन्हें यह स्वयं चुनती है—आध्यात्मिक स्तरोंसे जड़तत्वमें अन्तर्वलनकी ओर क्रमिक रूपसे उतरती, ऊपरसे नीचेकी ओर उनका संवर्धन करनी है अथवा जिसे हम विकास-क्रम कहते हैं, उसके द्वारा ऊपरकी ओर क्रिया करती, सामने उन्हें व्यवस्थापित करती है। यदि यह तुम्हारे भीतर अहंकारके द्वारा क्रिया करना पसन्द करती है तो तुम समझते हो कि यह साफ़ कटा-छंटा व्यक्तिगत "मैं" है जो सबकुछ कर रहा है—यदि यह उस सीमित क्रियासे अपनेको मुक्त करना आरंभ करती है तो तुम अपने "मैं" के भावको प्रस्तारित करने लगते हो जबतक कि यह अनन्तके भीतर कूद पड़ता है और अव रह नहीं जाता अथवा तुम इसे झाड़ गिराते हो तथा आध्यात्मिक विशालतामें पुष्पित होते हो। अवश्य ही यह वह वस्तु नहीं जिसे आधुनिक जड़वादी चिंतनामें चेतना कहते हैं, क्योंकि वह चिंतना भौतिकी द्वारा शासित है और चेतनाको मात्र एक वाह्य दृश्यके रूपमें देखती है जो अचेतन जड़तत्वसे उद्भूत होती तथा वाह्य वस्तुओंके प्रति शरीरके अवयवोंकी कुछ प्रतिक्रियायोंकी बनी होती है। किंतु वह चेतनाका एक वाह्य दृश्य विषय है, वह स्वयं चेतना नही, और तिसपर भी वह संभाव्य चेतनाके वाह्य दृश्य विषयका मात्र एक बहुत छोटा अंश है तथा सत्य चेतना, जो अस्तित्वका सार तत्व है, उसके विषयमें कोई संकेत नहीं देता।

—(संकलन तथा रूपांतरकारक—ब्रजनन्दन)

श्रीअरविन्द आश्रम
पाँण्डिचेरी-२

●

श्रीमद्भगवद्गीताकी उपादेयता

—डा० गोस्वामी गिरिधारीलाल शास्त्री एम० ए०

●

आशा, उत्साह एवं कर्मयोगका अमर संदेश देने वाली, निर्बलको बलवान्, कायर को शूर, अशांतको शांत, असंतुष्टको संतुष्ट, अकर्मण्य को कर्मण्य, पापी को निष्पाप, देश-द्रोही-को देशभक्त बनानेकी उदात्त भावना करने वाली श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय धर्म तथा दर्शनका उपजीव्य ग्रन्थ है। भारतीय संस्कृतिके इस गौरवपूर्ण ग्रन्थने प्राचीन कालसे लेकर आजतक, भारतही नहीं, अपितु संसार भरके दार्शनिकों, चिन्तकों, मानव-जीवनके अध्येताओं तथा कर्म-वीरोंको चिन्तनकी एक भव्य आलोक-रेखा प्रदानकी है।

'गीता' शब्दका अर्थ है जो गाई गई हो। आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने इसका गान किया है। उसके गानका विषय था—उपनिषदोंका ज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या।

उपनिषद् ब्रह्म तथा ब्रह्म-विद्याका विश्लेषण करने वाले ग्रंथ हैं। भारतीय धर्म एवं दर्शन ग्रन्थोंमें ईश्वरके लिये पुल्लिगवाची तथा ईश्वरकी शक्तिके लिए स्त्रीलिंगवाची अनन्त शब्द हैं, किन्तु नपुंसकलिंगवाची "ब्रह्म" शब्दके लिये कोई पर्यायवाची दूसरा शब्द प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म, जिसके ईश्वर और जीव दोनों ही अंश हैं, अनिर्वचनीय है। अमेरिकाके विश्व-धर्म सम्मेलनमें ब्रह्मके विषयमें जिज्ञासाकी गई कि ब्रह्म पुरुष है अथवा नारी, तो उपस्थित महान् भारतीय दार्शनिकने कहा था कि "God is neither Mister nor Mistress but mystery" अर्थात् ब्रह्म न तो पुरुष है न ही नारी, वह तो एक महान् रहस्य है। गीतामें उसी शाश्वत रहस्य "ब्रह्म" की व्याख्याकी गई है। योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा मोहासक्त अर्जुन-का संवाद ही नर और नारायणका संवाद है। महाभारतके आदि श्लोकमें नर और नारायण आदिको प्रणाम करनेका अभिप्राय यही है—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

उपनिषदोंमें ब्रह्मका प्रतिपादन निषेधात्मक रूपसे किया गया है 'ब्रह्म' जन्म न लेने वाला अजन्मा, इन्द्रियोंसे भान न होने वाला अगोचर, आदि व अन्तसे रहित अनादि व अनन्त, विकृत न होने वाला अविकारी, नाशको प्राप्त न होने वाला अविनाशी एवं निराकार है। ऐसे अनिर्वचनीय ब्रह्मके ज्ञानका मार्ग उपनिषदोंमें उपलब्ध है। गीता, उपनिषदोंका सार एवं गहन तत्व है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन:।
पार्थो वत्स: सुधार्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

वत्सका अभिप्राय अधिकारी पात्रसे है। मोहासक्त बुद्धिमान अर्जुन इस गीतामृत-का पान करने वाला अधिकारी। स्वर्गका अमृत पीनेसे तो पुण्य क्षीण होने पर पुनर्जन्म होता है किन्तु गीतामृत पान करने वाला जन्म-मरण रहित हो जाता है।

'मामुपेत्य तु कौंतेय पुनर्जन्म न विद्यते'। अर्थात् भगवान्‌के मुखारविन्द से नि:सृत इस ज्ञान-पीयूषको पान करने वाले पार्थ रूप जीवके सब बंधन टूट जाते हैं। वह मुक्त होकर उस सनातन ब्रह्म में ही लीन हो जाता है।

गीताका ज्ञान वास्तवमें अद्‌भुत ज्ञान है। इसी कारण स्वर्गीय प्रधान मंत्री लोक-नायक श्री नेहरूने इसे सूर्य के समान बताया है। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक है। इसीलिये विश्व भर के विद्वानोंने गीताका गौरव-समान रूपसे स्वीकार किया है। गीता मानव समाजका उपादेय ग्रन्थ है। कुटिया से लेकर राजमहल तक, दिगम्बर सन्यासीसे लेकर राजा तक, एक व्यापारीसे लेकर मातृभूमि की रक्षा करनेके लिए समरांगण-में कूद पड़ने वाले एक सैनिक तक सभीके लिए गीता एक ऐसा प्रेरणाका स्रोत है जिसके बल पर वह जीवन में बड़े से बड़े संघर्ष एवं संकट का सामना करने को प्रस्तुत हो जाता है। गीता निष्प्राण में प्राण संचार करती है : विश्व समाजके प्रत्येक क्षेत्रमें गीता की महिमा उपादेय है। राजनीति, धर्म दर्शन संस्कृति व राष्ट्रीयता के मानदण्डों को निर्धारित करने वाला यह ग्रन्थ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय ग्रन्थ है। जहाँ देश तथा राष्ट्रकी सीमाओंको दूर रख कर विश्व भरके सभी लोग मानव मात्र के कल्याण एवं शांति के लिए भाव-रश्मियों की खोज करते हैं। गंगा की लहरों से लेकर टेम्स के मुहाने तक गीता की निर्मल तरंगों का संगीत है। आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य लोकमान्यतिलक, महात्मागांधी तथा अन्य देशीय महापुरुषोंने भी गीता पर व्याख्याएं की हैं। इसी कारण गीता का संसार की सभी भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध है।

भारतीय जीवन तथा साधना के तीन अमर पथ हैं, कर्म, भक्ति तथा ज्ञान। इनमें ज्ञान नितांत व्यक्तिपरक होनेके कारण ऐकांतिक बन जाता है। मोहासक्त अथवा अविचार पूर्ण किया गया कर्म भी बन्धनका कारण है। कर्म तथा ज्ञान के बिना भक्ति भी ऐकान्ति-

कताका रूप ले लेती है। यदि इन तीनों का समन्वय हो जावे तो जीवनमें संतुलन स्थापित हो सकता है।

गीतामें एकतामें अनेकता, व्यष्टिमें समष्टि तथा परस्पर विरोधमें समन्वयकी खोज की गई है। इसी समन्वय सिद्धांतका नाम निष्कामता, निःसंगता, फलासक्ति-अथवा गीता है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'

'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वशः', यह पद्य इसी तथ्य का द्योतक है। कर्त्तव्य-कर्मका त्याग ही मृत्यु है। कर्त्तव्य-कर्मकी परायणताही जीवन है। इस प्रकार लोक-संग्रहका संदेश ही गीता का अमर संदेश है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।

गांधीजीने गीताको अनासक्ति कर्मयोगके नामसे पुकारा है। गीतामें संसारसे निवृत्त होने की बात नहीं कही गई है। ऐकान्तिक और व्यक्तिगत साधना पर भी ज़ोर नहीं दिया गया है बल्कि गृहस्थ और सन्यास, आसक्ति तथा विरक्तिका सानुपातिक समन्वय प्रस्तुत करते हुए अनासक्त होकर कर्मक्षेत्रमें कूदने का संदेश दिया गया है। इस अनासक्त कर्म-योगको समझना ही गीताको समझना है। मनुष्य कर्मोंका सन्यास न करे अपितु कर्मको कर्त्तव्य समझकर उसके फलमें आसक्ति न रखते हुए कर्म करें।

वेदोंमें मनुष्य जीवनका लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्गकी प्राप्ति कहा है। गीताने अनासक्त कर्त्तव्य कर्मको ही मोक्षकी प्राप्ति का सरल साधन वताया है—

"स्वकर्मणा समभ्यर्च्य संसिद्धि लभते नरः"

कर्त्तव्य कर्म पालनमें यदि उसे अपने भौतिक शरीरका भी परित्याग करना पड़े तो न चूके। शरीर तो नाशवान् है किन्तु सदैव आत्मा अमर है। कर्म योगकी साधना अपूर्ण हो और मृत्यु आजाए तो भी उत्तम है क्योंकि शुभ कर्ममें रत होनेके कारण जीवको सुगति प्राप्त होती है। उसके पश्चात् पुनर्जन्ममें वह पुनः श्रीमान् तथा पवित्र घरमें जन्म लेकर कर्म योग की साधनाके पूर्ण करनेके अवसरको प्राप्त करता है।

उपनिषदोंमें कहा है—उत्तिष्ठत् जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत। गीता इसी प्रेरणाका स्रोत है।

तस्मादुत्तिष्ठ कौंतेय युद्धाय कृतनिश्चयः।

इसलिए गीता निराशामें ग्रस्त मनुष्यके जीवनको आशाकी किरणोंसे प्रकाशमान करती है।

अमेरिकाके सुप्रसिद्ध एवं महान् संत थोरोने लिखा है—

I would say to the readers of Scriptures if they wish for a good book, read Bhagwad Gita.

में धर्मग्रन्थोंके पाठकोंको मैं यही कहूँगा कि यदि वे अच्छी पुस्तक पढ़ना चाहते हैं तो गीता अध्ययन करें। महर्षि व्यास का कहना है—

'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र संग्रहैः
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।"

अर्थात् सभी शास्त्रों के अध्ययन की अपेक्षा गीता का पढ़ना ही सर्वोत्तम है।

●

ब्रह्म-ज्योति

ब्रह्म मनुष्यके अन्तरतममें निवास करता है और उसे विनष्ट नहीं किया जा सकता यह आन्तरिक ज्योति है, एक छिपा हुआ साक्षी, जो सदा बना रहता है और जो जन्म-जन्मान्तरमें अनश्वर है। उसे मृत्यु, जरा या दोष छू नहीं सकते। यह जीवका जो, आत्मिक व्यष्टि है, मूल तत्व है। जीव परिवर्तित होता है और जन्म-जन्मान्तरमें उन्नति करता जाता है और जब आत्माका ब्रह्मके साथ पूर्ण एकत्व स्थापित हो जाता है तब वह उस आत्मिक अवस्थामें पहुंच जाता है, जो उसकी भवितव्यता है; और जब तक वह दशा नहीं आती, तब तक वह जन्म-मरणके फेरमें पड़ा रहता है।

—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

मातका महत्वपूर्ण स्थान उसके वात्सल्य का मर्मस्पर्शी चित्रण

माता और उसका वात्सल्य

—श्री मधुव्रत

●

नारी इस विश्वकी मंगलमयी विभूति है। नारीसे ही नरको अस्तित्व प्राप्त होता, पूर्णता मिलती और जीवन-यात्राके पथमें वल एवं संवलकी प्राप्ति होती है। नारीके बिना नर और नरके बिना नारी दोनों अधूरे हैं। दोनों ही एक दूसरे-के पूरक एवं सहायक हैं। नारीके प्रधानत: चार स्वरूप हैं—जननी (माता), जाया (पत्नी), स्वसा (वहिन) और आत्मजा (पुत्री)। इन सबमें उसका जननीरूप ही गौरवकी दृष्टिसे अधिक अभिनन्दनीय एवं वन्दनीय है। शास्त्रोंमें माताको गुरु और पितासे भी उच्चतम स्थान दिया गया है।"मातृदेवो भव" यह श्रुतिकी आज्ञा इसी सत्यका दिग्दर्शन कराती है।

संसारमें दो प्रकारके सम्बन्ध देखे जाते हैं, स्वार्थमूलक और स्नेहमूलक। नारीके उपर्युक्त चारों स्वरूपोंके साथ जो हमारा सम्बन्ध है, वह स्नेहमूलक ही है। इसमें भी माता-का स्नेह अधिक विशुद्ध है। अन्य सम्बन्धोंमें सूक्ष्मरूप से कुछ कुछ स्वार्थकी—आदान-प्रदान-की भावना या संभावना रहती है, परन्तु माताके स्नेहमें इस भावना या संभावना के लिए भी स्थान नहीं है। माता केवल स्नेह लुटाती है, पाती कुछ भी नहीं, पानेकी इच्छा भी नहीं रखती। जिसे गर्भाशयमें रखकर वह कई महीनों तक अपने रक्तसे सींचती और पुष्ट करती है। वह नवजात शिशुरूपी जलजात (कमल) जब नाल सहित बाहर प्रकट होता है तो वह उसके सौरभ, सौन्दर्य, विकास एवं हासविलास आदि देखकर ही उस पर वलिहारी जाती है। उस दुधमुंहेसे वह क्या आशा रख सकती है, उससे मिल ही क्या सकता है! भविष्यमें सुख होनेकी आशासे वह शिशुका लालन-पालन करती है, यह कहना माताके त्यागपूर्ण स्नेहका, वात्सल्यका अपमान करना है। इसमें संदेह नहीं कि माताको शिशुकी सेवामें सुख मिलता है, उल्लास प्राप्त होता है, किन्तु क्या उसका यह स्वार्थ है? जैसे महात्मा पुरुष असहायों और अनाथोंको सुख पहुंचानेमें, नंगों-भूखोंको अन्न वस्त्र देनेमें आनन्दका अनुभव

करते हैं, वही आनन्द, वही सुख और भी परिष्कृत रूपमें माताको शिशुकी सेवासे प्राप्त होता है। यह आनन्द, उसकी सेवाओंका मूल्य नहीं, तपस्याका आनुषङ्गिक फल है, साधन-का सात्त्विक प्रसाद है। उसकी गोदका बालक सुखसे रहे, इसीमें माताको सुख है, आनन्द है। "तत्सुखसुखित्वम्‌की (प्यारेके सुखमें सुखी होनेकी) सफल साधना माताके जीवनमें सदा स्वभावसे ही चालू रहती है। शिशुको खेलते-खाते देख वह खिल उठती है। उसे फूलते-फलते देख वह फूली नहीं समाती।

भगवान् न करें, यदि बालकको कुछ हो गया, उसे सर्दी-गर्मी लग गयी तो माताके प्राण सूख जाते हैं। वह खाना, पीना, सोना सब कुछ भूल कर दिनरात बच्चोंकी सेवामें संलग्न रहती है। उसके आरामके लिए वह पूजा-पाठ, जप-तप, दवा-दारू, झाड़-फूंक आदि क्या-क्या नहीं कराती? उसके मन-प्राणोंमें, आत्मामें नित्य-निरन्तर एक ही पुकार रहती है मेरा लाड़ला अच्छा हो जाय। यदि शिशुकी जीवन रक्षाके लिए उसे अपने जीवनका भी उत्सर्ग करना पड़े तो वह उससे मुंह नहीं मोड़ सकती। हंसते-हंसते प्राण दे देगी।

बहुत-से कृतघ्न पुत्र बड़े होनेपर माताके उपकारोंको भूल जाते हैं, उसे भांति-भांतिके कष्ट देते हैं। फिर भी वह उनकी मंगलकामना में ही निरन्तर रहती है। कहते हैं, कोई दुष्ट मनुष्य किसी कुलटाके बहकानेसे अपनी माताको मार उसका कलेजा निकाल कर लिए जा रहा था। रास्तेमें ठेस लगी, वह गिर पड़ा। उस समय भी ममतामयी माताका कलेजा पुकार उठा—"बेटा उठो, तुम्हें कहीं चोट तो नहीं लगी"। यह है माताका हृदय। उसमें दुष्ट पुत्रके लिए भी कहीं अमंगलकी भावना या अभिशाप नहीं है। किसी आचार्य ने ठीक ही कहा है—"पुत्र कुपुत्र हो जाता है, पर माता कभी कुमाता नहीं होती—'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति'। माताका अंचल पुत्रके लिए अभय आश्रय है। उसका वरद हस्त सदा सुतकी कल्याण-कामनाके लिए उद्यत रहता है। माता ममताकी सजीव मूर्ति होती है। "मां" इस मधुर नामका उच्चारण करते ही स्नेहका स्रोत उमड़ पड़ता है। वात्सल्य-रस का सागर लहराने लगता है। काव्यमें जो नवरस माने गये हैं उनमें श्रृंगार सबसे प्रधान है। इसलिए उसे रसराज भी कहते हैं। आजकल श्रृंगारका नाम सुनकर कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं। यद्यपि भीतर ही भीतर उसे सबसे अधिक पसन्द करते हैं। श्रृंगारको संकुचित दृष्टिसे देखा जाने लगा है, उसे लोगोंने मिलन और अभिसारके क्षेत्रों तक ही सीमितमान रक्खा है। परन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है, श्रृंगारका क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसका स्थायी भाव है रति, सख्य-रति, वात्सल्य-रति और कान्त-रति। यही रति विभाव आदि के द्वारा पुष्ट होकर "रस" रूपमें परिणत होती है। यह मानव-विषयक होनेपर रस और देवता विषयक होनेपर भाव कहलाती है। ऐसा कुछ लोगों का मत है वास्तवमें तो विभाव, अनु-भाव और संचारी भावोंसे अभिव्यंजित होनेपर लोकोत्तर आनन्दकी अनुभूति कराने वाली प्रत्येक रति ही रसका रूप धारण करती है। वात्सल्य रसमें पुत्र आलम्बन विभाव है और माता आश्रय। शिशुकी शैशवोचित चेष्टाएं तथा तदनुकूल देश कालकी परिस्थिति उद्दीपन-

का काम करती है। शिशुको गले लगाना उसका चुम्बन करना अनुभाव है। इससे होने वाले रोमांच, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इन सबके द्वारा अभिव्यक्त होने वाली वात्सल्य-रति रस रूपमें परिणत होती है। यह वात्सल्यरस शृंगारका अवान्तर भेद है। इस प्रकार माता और पुत्रका प्रेम भी शृंगार रसके अन्तर्गत है। इस बातको शायद बहुतसे शिक्षित मनुष्य भी नहीं जानते या नहीं मानते होंगे। अब वात्सल्यरस के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

माता अपने भोले-भाले शिशुका मुख देखकर निहाल हो उठती हैं। आह्लाद-मग्न हो जाती हैं। उसकी बलैया लेती है। बालकको देखते ही उसका बीता हुआ बचपन लौट आता है। वह उसीके साथ हंसती-गाती और खेलती है। उसीके समान तोतली भाषामें बातें करती है। पालना झुलाती है और लोरियां गाती है। सूरने उसका कितना मनोरम चित्र उपस्थित किया है—

यशोदा हरि पालने झुलावै,
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लालाको आउ निंदरिया काहे न वेगि सुवावै।
तू काहे न वेगि ही आवै तोको कान्ह बुलावै।

इस हलराने दुलरानेमें माताको जो दिव्य सुख प्राप्त होता है, वह देवताओं और मुनियोंको भी नसीब नहीं—

जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नँदभामिनि पावै।

माताके मनमें पुत्रके प्रति क्या-क्या इच्छा होती है, इसे सूर की अन्तंदृष्टिने देखा और अङ्कित किया है। उन्हींकी वाणीमें पढ़िये—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै,
कब धरती पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं,
कब तुतरे मुख बैन झरै।।
कब नन्दहि कहि बाबा बोलै,
कब जननी कहि मोहि ररै।।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन,
जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै,
अपने करसों मुखहि भरै।
कब हंसि बात कहैगो मोसों,
छबि देखत दुख दूरि टरै।।

कितना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण है। प्राणोपम पुत्रकी शक्ति और चेष्टाओं-का उत्तरोत्तर विकास ही स्नेहमयी जननीकी जीवन-साधना है। "कब जननी कहि मोहि ररै" (कब मुझे "माँ" कहकर पुकारेगा?) इन पदोंमें मातृ-हृदयकी सारी साध सजीव होकर उतर आयी है। बेटे के मुंह से "माँ" यह अमृतमय संबोधन सुनकर माताकी अन्तरात्मा कितनी तृप्त होती है, इसे माता ही जानती है।

जब बालक कुछ बड़ा होता है, अपने पैरों चलने लगता है, तब माताके हृदयमें स्नेह और आनन्दके साथ ही कुछ आशङ्का भी अंकुरित हो उठती है। मेरा लाल कहीं बाहर जाय और उसे कोई चोट पहुंचा दे तब क्या होगा? इस भयसे वह अपने लालाको सावधान करते हुए कहती है—

"दूर कहूं जनि जाहु लला रे मारेगी काहू की गैया।" प्रीति की सच्ची कसौटी विरह है। बिछोहकी आगमें तप कर ही प्रेमका कांचन खरा उतरता है। प्राण-प्यारा पुत्र परदेश चला गया। पता नहीं, इस जीवनमें अब वह फिर मिलेगा या नहीं? उसकी एक-एक बात एक-एक चेष्टा याद आ-आकर माताके हृदयको सालती है, उसकी वेदनाको सहस्रगुनी किये देती है। कभी न कभी वह आवेगा, इस आशामें ही माता जीवन धारण कर रही है। दिन अधिक बीतने पर जब निराशाकी घटा घिर आती है तो उसकी व्याकुलता और अधीरता बहुत बढ़ जाती है, वह सोचने लगती है—

मनौं हौ ऐसे ही मरि जैहौं।
इहि आंगन गोपाल लालको
कबहुंक कनिया लैहों।
कब वह मुख बहुरो देखौंगी
कब वैसो सचु पैहों॥
कब मौपैं माखन मागैगो
कब रोटी धरि दैहों॥
मिलन आस तन प्रान रहत हैं
दिन दस मारग चैंहौं॥
जो न सूर इत कान्ह आइहैं
जाहि जमुन धसि लेहौं।

कैसी व्यग्रताकी पराकाष्ठा है! श्रीकृष्ण अब देवकीके पास रहते हैं, माता तो उनकी वे ही हैं। मैं तो केवल धाय थी। यह जान कर नन्दरानी को कितना दुःख हुआ होगा। फिर भी श्रीकृष्णपर उनकी सहज ममता कम नहीं होती। उन्हें इस बातका गर्व है कि कन्हैयाका लालन-पालन जैसा मैं करती थी वैसा देवकीसे नहीं हो सकता। मेरा मोहन संकोची है। उसे मेरी तरह बार-बार आग्रह करके कौन नहलाती, धुलाती और कलेवा कराती होगी। यह

सोचकर उनसे रहा नहीं जाता वे पथिकसे संदेश भेजती हैं—

सँदेशो देवकी सों कहियो।
मैं तो धाइ तुम्हारे सुत की
मया करत नित रहियो।
जदपि टेव तुम जानत उनकी
तऊ मोहि कहि आवै॥
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्ह को
माखन रोटी भावै।
तेल उबटनों अरु तातो जल
ताहि देखि भगि जावै॥
जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ देती
क्रम क्रम करि करि न्हावै।
सूर पथिक सुनि मोहि रैन दिन
बढ़यो रहत उर सोच॥
मेरो अलक लड़ैतो मोहन
ह्वै है करत संकोच।

कितनी चिन्ता है, कितनी आकुलता है ? यह है मातृ-हृदयका सहज स्नेह और वात्सल्य। जिन्हें इस रसका निरन्तर अनुभव होता रहता है, वे बड़भागी मनुष्य धन्य हैं।

●

बालकृष्ण की रूप-छटा

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मण्डित, मुख दधि लेप किये॥
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप-गन, मादक मधुहि पिए॥
कठुला-कण्ठ, बज्र केहरिनख, राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिये॥

—भक्तप्रवर सूरदासजी

रोगोंके जीवाणुओं और कीटाणुओंका गुह्याध्यात्मिक तथ्य

—श्रीअरविन्द आश्रमकी श्रीमाताजी

······भौतिक वातावरणमें, पार्थिव वातावरणमें अनेकों छोटी-छोटी सत्ताएं विद्यमान हैं, जिन्हें तुम देखते नहीं, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि बहुत सीमित है, किंतु जो तुम्हारे वातावरणमें विचरतीं हैं। उनमेंसे कुछ बड़ी भद्र होती हैं, कुछ बड़ी खोटी। सामान्यतया ये छोटी-छोटी सत्ताएं प्राणिक सत्ताके विघटनसे उत्पन्न होती हैं—ये उनमें से अंकुरित होती हैं। मैंने तुम्हें उन छोटी-छोटी सत्ताओंकी कहानी सुनायी थी न, जो मुझे यह बतलानेके लिये मेरी साड़ी खींचा करती थीं कि मेरा दूध उफनने पर आगया है और मुझे जाकर देखना चाहिए जिसमें वह उफनकर गिर न पड़े। किंतु वे सबकी सब ऐसी भली नहीं होती। उनमेंसे कुछ, छोटे-मोटे बुरे खेल खेलना पसंद करती हैं, छोटे-मोटे दुष्टतापूर्ण बुरे खेल। और तब अधिकांश समयमें ये किसी दुर्घटनाके पीछे होती हैं। इन्हें छोटी-छोटी दुर्घटनाएं भली लगती हैं, कोई दुर्घटना होनेपर जिन शक्तियों का बवंडर वहां खड़ा हो जाता है, वह इनके लिये बड़ा रुचिकर होता है: लोगोंकी भीड़, है न, यह बड़ा रोचक होता है! और इसके अतिरिक्त इससे इन्हें भोजन मिलता है, क्योंकि वस्तुतः ये भावावेशों और उत्तेजनाओं द्वारा शरीरसे बाहर प्रक्षिप्त ऊर्जाओंको ही खाकर रहती हैं। अतः ये कहती हैं। एक अत्यंत छोटी-सी दुर्घटना, यह तो बड़ा अच्छा है, बहुत-सी दुर्घटनाएं!

और यदि इन्हीं छोटी-छोटी सत्ताओंका एक दल हुआ तो ये एक दूसरेसे टकरा सकती हैं, क्योंकि इनका आपसी जीवन बड़ा शान्तिपूर्ण नहीं होता, ये परस्पर टकरा सकती हैं, लड़ सकती हैं, एक-दूसरेको नष्टकर सकती हैं, ध्वस्त कर सकती हैं, इत्यादि। किंतु ये भग्न अवस्थामें भी जीवित रहती हैं, और यही रोगोंके जीवाणुओं और कीटाणुओंका प्रारम्भ है। परिणामस्वरूप अधिकांश कीटाणुओंके पीछे दुर्भावना होती है, और यही इन्हें इतना खतरनाक बना देती है। और जबतक कोई इस दुर्भावनाके स्वरूप और वर्गको न जान ले तथा उसपर

क्रिया न कर सके तबतक वह सौमें निन्यानवे अवस्थाओंमें सच्चा तथा पूरा उपचार नहीं पा सकता। कीटाणु सूक्ष्म-भौतिक जगत्‌में किसी जीवित वस्तुकी एक अत्यंत स्थूल-भौतिक अभिव्यक्ति है, और यही कारण है कि वे ही कीटाणु जो तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे भीतर सर्वदा विद्यमान हैं, वर्षोंतक तुम्हें रोग नहीं लाते, और फिर एकाएक वे तुम्हें रोगी वना देते हैं।

एक और कारण है। वह है एक असामंजस्य, उस विरोधी शक्ति, जो कीटाणुके मूलमें है तथा उसे अवलम्ब देता है, उसके प्रति सत्ताकी ग्रहणशीलता···। मैं तुम्हें एक कहानी सुनाती हूं ·····यह तुम्हें इसका एक उदाहरण देगी।

मैं जापानमें थी। सन् १९१९ के जनवरीका प्रारंभ था, अंततः यह वह समय था जब कि सारे जापानमें एक भयंकर "फ्लयू" फैला हुआ था, जिससे लाखों मनुष्य मर गये। वह एक ऐसीं महामारी थी जो विरले ही देखनेमें आती है। तोक्योमें, प्रतिदिन सैकड़ों और सैकड़ोंकी संख्यामें नये लोग इससे ग्रस्त होते थे। रोगका स्वरूप यह था : यह तीन दिन टिकता था, और तीसरे दिन मनुष्य मर जाता था। और लोग इस कदर मरते थे कि उन्हें जलाया भी नहीं जा सकता था, जलाना असंभव था, मृतकोंकी संख्या बहुत होती थी। और यदि तीसरे दिन कोई नहीं मरा तो सातवें दिनके अंतमें वह चंगा हो जाता था; व्यक्ति जरा थक जाता था, किंतु बिलकुल स्वस्थ हो जाता था। नगरमें आतंक छा गया था; क्योंकि जापानमें विरले ही कोई महामारी होती है; वहांके लोग बड़े साफ़, बड़े सावधान होते हैं और उनका मानसिक स्वास्थ्य बड़ा अच्छा होता है। वहां रोग बहुत विरले ही होता है, किंतु यह महामारी आयी तो ऐसे, मानों विनाशका स्वरूप लिये आयी। भयंकर आतंक छाया हुआ था। जैसे कि. सड़कपर चलते हुए लोग अपनी नाकपर नक़ाव लगाये रहते थे, जिसमें कि जिस हवामें वे सांस लेते थे वह रोगके कीटाणुओंसे भरी हुई न हो, उसे शुद्ध करनेकी नक़ाव। यह एक व्यापक आतंक था···। और मैं एक ऐसे व्यक्तिके साथ रहती थी जो मुझे निरंतर तंग करता था : "किंतु यह क्या है, यह बीमारी? इस बीमारीके पीछे कौनसी वस्तु है?" मैं जो करती थीं वह केवल यह कि अपनेको अपनी शक्ति, अपने संरक्षण द्वारा ढंककर रखती थी, जिसमें मैं उससे पकड़ी न जाऊं, और मैं उसके विषयमें कुछ नहीं सोचती थी तथा अपना काम करनेमें लगी रहती थी। कुछ हुआ नहीं, और मैंने उसके विषयमें कुछ सोचा भी नहीं। किंतु सदा वह : "क्या है यह? उफ़! मैं जानना चाहता हूं कि इस बीमारीके पीछे कौनसी वस्तु है? किंतु अंततः यदि आप मुझे बतला देती कि यह बीमारी क्या है, यह बीमारी क्यों है?"···इत्यादि। एक दिन मेरी एक परिचित युवतीने मुझे शहरके दूसरे छोरपर बुलाया था। वह कुछ मित्रोंसे मेरा परिचय कराना चाहती थी; मुझे अब ठीक याद नहीं कि क्या बात थी, किंतु अंततः मुझे सारे नगरको ट्रामसे पार करना था। और मैं ट्राममें थी तथा मैं उन लोगोंको नाकपर नकाब लगाये देखती थी, और फिर वातावरणमें निरंतर वह आतंक छाया हुआ था, और उसपरसे था उस मनुष्यका खट्-खट् करता हुआ

प्रश्न; मैं अपनेसे पूछने लगी : "सचमुचमें, यह रोग क्या है ? इस रोगके पीछे कौनसी वस्तु है ? इस रोगके भीतर कौनसी शक्तियां हैं···?" मैं उस घरपर पहुंची, वहां घंटाभर रही और फिर लौट आयी। मैं अपने घरमें एक भयंकर ज्वर लिये घुसी। मैंने रोग पकड़ लिया था। यह तुम्हारे पास इस प्रकार आता था, बिना किसी तैयारीके, क्षण भरमें। रोग, सामान्यत: जीवाणु और कीटाणुवाले रोग शरीरके भीतर समय लेते हैं : वे आते हैं, भीतर एक छोटीसी लड़ाई होती है; तुम उसमें जीतते हो या हार जाते हो; यदि तुम हार लाते हो तो तुम रोग पकड़ लेते हो, यह कोई जटिल बात नहीं है। किंतु वहां तुम्हें एक चिट्ठी मिलती है, तुम लिफाफा खोलते हो, हप्प ! झप्प ! एक मिनिट बाद तुम्हें ज्वर आ जाता है। अस्तु। शामको मुझे भयंकर ज्वर चढ़ आया। डाक्टर बुलाया जाता है (मैंने उसे नहीं बुलाया था), और वह मुझसे कहता है : "यह अत्यंत आवश्यक है कि मैं आपको अमुक औषधि दूं :" ज्वरका प्रतिरोध करनेके लिये वह सर्वोत्तम औषधियोंमेंसे एक थी, उसके पास वह थोड़ीसी थी (उन लोगोंका सारा भण्डार समाप्त हो गया था, सभी उसे लेते थे), उसने कहा : "मेरे पास इसकी कुछ पुड़ियां अभी भी बची हुई हैं, मैं आपको यह दूंगा।"—' मैं आपसे विनय करती हूं, मुझे वह न दें, मैं उसे नहीं लूंगी। उसे उसके लिये रखिये जिसे उसपर विश्वास है और वह उसे लेगा।" वह बिलकुल उकता गया : "मेरे यहाँ आनेका कोई अर्थ नहीं।" तब मैंने उत्तर दिया : "शायद कोई अर्थ नहीं !" और मैं अपने बिस्तरपर ज्वर लिये, भयंकर ज्वर लिये पड़ी रही। हर घड़ी मैं अपनेसे पूछती रही : "क्या है यह रोग ? क्यों है यह रोग ? कौनसी वस्तु इस रोगके पीछे है ?···" दूसरे दिनके अंतमें, जब मैं अकेली लेटी हुई थी तब मैंने स्पष्ट रूपसे एक सत्ता देखी। उसके सिरका एक भाग कटा हुआ था; वह सैनिक वर्दी पहने हुए थी (अथवा सैनिक वर्दीका कुछ अवशेष पहने थी) ; वह मेरी ओर बढ़ आयी और मेरी शक्ति चूसनेके लिये अपना वह अधकटा सिर लिये यों झटसे मेरी छातीपर कूद पड़ी। मैंने अच्छी तरह देखा, और तब मुझे ऐसा बोध हुआ कि मैं मरने जा रही हूं। वह मेरी सारी प्राणशक्ति खींचे जा रही थी (क्योंकि तुम्हें यह बता देना आवश्यक है कि निमोनियांसे लोग तीन दिनमें मर जाते हैं)। मैं बिलकुल अपने बिस्तरमें गड़ गयी थी, निश्चेष्ट, गहरी समाधिमें। मैं अब बिलकुल हिल-डुल नहीं सकती थी, और वह चूसे जा रही थी। मैंने सोचा : अब अंत आगया। तब मैंने अपनी गुह्य शक्तिका आवाहन किया, एक घोर संग्राम चलाया और उसे लौटा देनेमें सफल हुई जिसमें कि वह वहाँ और न ठहरे। और मैं जाग उठी।

किंतु मैंने देख लिया था। और मैं जान गयी थी कि वह रोग उन सत्ताओंसे आता था जो वेगसे अपने शरीरसे बाहर फेंक दी गयी थीं। मैंने इसे पहले विश्व-युद्धके समय, उस युद्धकी समाप्तिके समय देखा था, जब, लोग खाइयोंमें रहते थे और बंबारीसे मार दिये जाते थे। वे बिलकुल स्वस्थ, बिलकुल चंगे थे, और एक सेकेंडमें झटकेसे अपने शरीरसे बाहर फेंक दिये जाते थे, उन्हें इस बातका ज्ञानतक नहीं रहता था कि वे मर गये हैं। उन्हें इस बातका पता नहीं होता था कि अब उनका शरीर नहीं रह गया है, और जिस जीवनको वे अपने अन्दर नहीं

पाते थे उसे वे दूसरोंके अंदर ढूंढ़नेकी चेष्टा करते थे। कहनेका यह अर्थ' कि वे अनगिनत संख्यामें खून चूसनेवाले पिशाचोंमें परिणत हो गये थे। और वे लोगोंका खून चूसते थे। और तब इसके साथ-साथ, वे लोग जो बीमार होकर मर जाते थे, उनकी प्राणशक्तियोंका विघटन होता था। लोग इन सबोंसे बने एक प्रकारके चिपचिपे, धुंधले मेघके बीच वास करते थे। और तब, जब लोग इस मेघको अपने अंदर खींचते थे, वे बीमार पड़ जाते थे और सामान्यतया वे अच्छे हो जाते थे, किंतु जिन लोगोंपर उस प्रकारकी सत्ताओंका आक्रमण होता था, जो इन बुरी शक्तियोंके बवंडरके केंद्रमें थीं, वे मर जाते थे। और ऐसी सत्ताओंकी संख्या बहुत रही होगी, काफी बड़ी संख्या। मैंने यह सब देखा और समझा।

जब कोई मुझसे मिलने आता था तो मैं उससे कहती थी कि मुझे अकेले छोड़ दो। मैं चुपचाप अपने बिस्तरपर पड़ी रही और मैंने दो-तीन दिन बिलकुल शांत भावसे, एकाग्र अपनी चेतनाके साथ बिताये। उसके बाद हमारा एक मित्र (एक बड़ा अच्छा जापानी मित्र) आया और उसने मुझसे कहा : "ओह ! आप बीमार थीं ? तब मैंने जो कुछ सोचा था वह सच ही निकला···जरा सोचिए तो, आज दो-तीन दिनोंसे शहरमें रोगसे कोई नया व्यक्ति ग्रस्त नहीं हुआ, और जो लोग बीमार थे उनमेंसे अधिकांश अच्छे हो गये, और मृतकोंकी संख्या लगभग नहींके बराबर है, और अब वह बिलकुल समाप्त हो गया। सारा रोग नियंत्रणमें आ गया है। तब मैंने, जो कुछ मेरे साथ घटा था उसे कह सुनाया, और उसने जाकर यह बात सबोंको बता दी। समाचार पत्रोंमें भी इसके कई लेख निकले।

हां, तो चेतना औषधिकी पुड़ियोंसे अधिक फलप्रद है, है न ! अवस्था बड़ी शोचनीय थी। जरा सोचो तो कितने ऐसे पूरे गांव थे जिसके सारे लोग मर गये। जापानमें एक गांव था कोई बहुत बड़ा नहीं, किंतु अंततः सौसे अधिक लोगोंका, और असाधारण संयोगवश ऐसा हुआ कि उस गांवके रहने वाले किसी एकके पास कोई चिट्ठी आयी (डाकिया वहां तभी जाता था जब किसीके नाम कोई चिट्ठी आती थी; स्पष्ट है कि यह गांव दूर देहाती क्षेत्रमें था), तब डाकिया उस गंवई क्षेत्रमें गया; वहां वर्फ़ पड़ी थी, सारा गांव बर्फसे ढका पड़ा था···एक भी जीवित प्राणी वहां नहीं था ! ऐसी बात थी वहांपर। इस प्रकारकी महामारी थी वह। और तोक्योकी ऐसी ही अवस्था थी; किंतु तोक्यो एक बड़ा शहर था, इसलिये वस्तुएं वहां इस प्रकार नहीं घटीं। और महामारीका अंत इस प्रकारसे हुआ।

●

योगेश्वर श्रीकृष्णकी वैज्ञानिक साधना

—डॉ भगवानसहाय पचौरी एम. ए. पी. एच. डी.

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान थे, पूर्ण ब्रह्म थे। विश्वकी यह मान्यता श्रीकृष्णके अलौकिक गुणों और ऐश्वर चमत्कारोंके कारण है। इससे अंश मात्र भी न्यून मान्यता हमें ग्राह्य नहीं है। परिकल्पना की यहाँ कोई कल्पना नहीं। सदैव से हमने उनके इसी पूर्णकलावतारी ब्रह्म-स्वरूप को नमन किया है। पूर्ण भगवत्ता का आरोपण करके ही मानव ने युग-युग-व्यापी उनके अनश्वर और अविनाशी ईश्वर-रूपको पूजा है और भक्ति, ज्ञान तथा कर्म की त्रिवेणी में आकण्ठ मज्जन किया है। किन्तु उनके मानव स्वरूप, लीलाधारी लोकरंजन और 'सत्य शिव सुन्दर' समन्वित अलौकिक रूपको हम यदि ज्ञान चक्षुओंसे देखें तो वे और भी अलौकिक रूपमें भक्तों, ज्ञानियों और तपस्वियोंको दर्शन देते हैं। उनका भगवत्स्वरूप जहाँ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का दाता है, वहाँ उनका मानव रूप विश्व की उच्चातिउच्च प्रेरणा, सुन्दर से सुन्दर संबल और महान से महान संजीवनी शक्ति देने वाला सिद्ध होता है। उनके भगवत् स्वरूपके समान ही उनका लौकिक मानव स्वरूप जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें प्राणी को नित्यनूतन जीवन-ज्योति और अजरामर सन्देश प्रदान करने वाला है। उस देवकी गर्भ सम्भूत, यशोदा-अजिरविहारी, नन्दबाबाके लाड़ले, गोप-गोपी-जनके प्रियतम, कंसचाडूरादि-खल-जन-मर्दक, ब्रह्म-रक्षक और भारतीय संस्कृतिके प्रतिष्ठापक मानव, महामानव, अति-मानव, श्रीकृष्णके मानवोपेत गुणों पर दृष्टिपात करके देखें तो आनन्दका सागर हिलोरें लेने लगता है। मानव रूपमें अलौकिक परिस्थितियोंमें जन्मा नन्द का वह लाला एक दिन कैसे भगवान पद पर आरूढ़ होगया, यह उस अति मानव के १२५ वर्षोंकी अहर्निशि, अनवरत कर्मनिष्ठा, तपश्चर्या, कठोर धर्मसाधना और योग-साधना की अति दीर्घ कहानी है। इस कहानी की अनन्तता, अखण्डता और निरन्तरता अकथनीय, वर्णनातीत और कल्पनातीत है। कारागारकी कथासे इसका सूत्रपात अवश्य होता है किन्तु अन्त, आजतक नहीं हुआ। होगा भी नहीं। भौतिक और आध्यात्मिक विश्वके लिये श्रीकृष्ण-जीवन कभी न रीतने वाला अमृत सागर है, जितना पान करिये उतना बढ़ता है। लेखनी क्षमता-रहित है इस अमृत-सागरकी कुछ बूंदोंका भी गुण गान करनेमें। परन्तु आजका वैज्ञानिक व चन्द्रलोक और शुक्रलोकों पर

मानव-ध्वज फहराने लगा है, तो सहसा हमें भारतके उस महत्तम वैज्ञानिक श्रीकृष्णकी अतिमानवीय वैज्ञानिक शक्तियोंका स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है, जिसने आज से प्रायः ५००० वर्ष पूर्व अपनी विचक्षण विज्ञान-साधनाके बल पर अान्तरिक्ष मंडलको हस्तामलकवत् बना रखा था। वे कौनसी शक्तियां थीं, वह कौनसा विज्ञान था, वह कौनसी कैसी साधना थी और उस साधना की प्रकृति क्या थी आदि प्रश्न आज हमारे सभी के मनमें उठते हैं। क्या श्रीकृष्णके वैज्ञानिक उपकरण भौतिक उपलब्धियों के माध्यम थे अथवा मात्र आध्यात्मिक थे अथवा दोनों थे, ये प्रश्न भी आज समाधान चाहते हैं। क्या आज के विज्ञानवेत्ता इन प्रश्नों पर आधृत कृष्ण-विज्ञान का भाष्य करेंगे? क्या आजके उदात्त मानवकी प्रज्ञा महाभारतके युगका पुनर्मूल्यांकन करेगी? जो भी हो उस महामानव की तपोनिष्ठाके कुछ जाज्वल्यमान आदर्शों पर यहां हम दृष्टिपात करने का प्रयास करेंगे।

श्रीकृष्ण योगेश्वर थे। योग 'युज्' धातुसे निष्पन्न 'जोड़ने' के अर्थ में व्यवहृत होता है। तत्त्वों का सम्मेलन (योग) हुआ। कृष्ण जीवनमें योगका प्राधान्य सर्वत्र मिलता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, गगन और वायुके योगसे शरीर बना है। भौतिक विज्ञानवेत्ता विविध परमाणुओंको एकत्र (योग) करता है। यन्त्र बन जाते हैं। परमाणुओंकी भी निश्चित आपेक्षित मात्रा होती है। इनमें आवश्यकतानुसार पार्थिव परमाणुओं, आग्नेय परमाणुओं वायविक परमाणुओं, जलीय परमाणुओं और अन्तरिक्ष-परमाणुओंकी न्यूनाधिकतासे भिन्न-भिन्न गतिविधिके भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक यन्त्र अथवा यान बनते हैं। मानवने आज इनमें स्थिर होकर अन्तरिक्ष लोकोंकी यात्राएं की हैं। अन्तरिक्ष विज्ञानका कदाचित यह आरम्भिक चरण है। आगे कदाचित अन्तरिक्ष यात्रा एक नैत्यिक कार्यका विषय बन सकती है। श्रीकृष्णने अभिमन्युके निधनसे शोकाकुल अर्जुनको सशरीर चन्द्रलोकमें ले जाकर अभिमन्युके सूक्ष्म शरीरसे भेंट कराई थी। वह यान आजके अन्तरिक्ष यान जैसा ही कदाचित रहा हो। मृत्यु-भयाक्रान्त अर्जुनको चिता-दाह से बचानेके लिये श्रीकृष्णने कौनसा अस्त्र छोड़ा था जिससे खमण्डलसे मेघोंकी घटा हट गई थी और सूर्य निकल आया था। आजके वैज्ञानिकों द्वारा कृत्रिम मेघमालाका निर्माण और वर्षा करना कृष्णकी उस योगलीलाका रहस्य समझानेको पर्याप्त नहीं है क्या? कुरुक्षेत्रके रण-प्रांगणमें युद्ध-ज्वर-पीड़ित विमोहित अर्जुनके समक्ष भावी महाभारतमें मरने वाले योद्धाओं और आहत चतुरंगिणी के दृश्य दिखाने वाले योगेश्वरने कौनसे अलौकिक टेलीविजन का आविष्कार करके दिखाया था, इस रहस्यको—भावीका रहस्यको पूर्वाभासपूर्व प्रदर्शन करने वाला कोई टेलीविज़न यन्त्र अभी आविष्कृत नहीं हो सका है, शायद कल हो जाय कौन जानता है। इसी प्रकारके चमत्कारोंकी विविध कथाओंसे श्रीकृष्ण जीवन भरा-पूरा है। इन चमत्कारोंको कोरा ईश्वरीय चमत्कार कहकर छोड़ देना तथा श्रीकृष्णकी ईश्वरीय महिमा-को प्रणाम निवेदन कर लेना पर्याप्त नहीं होगा। यह उनके उस विज्ञानके चमत्कार थे, जिसे योग साधना कहा जाता है और जिस विद्यामें पूर्ण निष्णात होनेके कारण उस महा-

पुरुषको योगेश्वर नामसे अभिहित किया जाता है। यह योग आध्यात्मिक विज्ञान था और आधुनिक विज्ञान भौतिक योगका आदर्श देता है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या आधुनिक विज्ञान प्राचीन योगकी सीमामें है और क्या प्राचीन योग-साधना आधुनिक विज्ञान-साधना के समकक्ष ठहरायी जा सकती हैं ? यहाँ विचारणीय यह है कि आजका विज्ञान मात्र भौतिक है अध्यात्म विहीन—मात्र पार्थिव, संहारक और स्वार्थलिप्सु। जबकि श्रीकृष्णकी योग-विज्ञान-साधना आध्यात्मिक थी—ऊर्द्ध्वस्थ, अहिंसक और लोकरंजक व निस्स्वार्थ। आजका वैज्ञानिक राष्ट्र-लिप्सु है। उसके आविष्कारमें राष्ट्र-परताके स्वार्थ निहित हैं। पुरातन विज्ञान ब्रह्माण्डोंकी सेवार्थ नियोजित, होता था। वह 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' तथा 'धर्म संस्थापनार्थाय था। दूसरा अन्तर यह है कि श्रीकृष्ण महाराजने जहाँ उपरिलिखित उद्देश्यसे आध्यात्मिक-भौतिक सम्पृक्त नाना आयुधों-यन्त्रों का निर्माण किया था, वहाँ उनका पंचतत्त्व-निर्मित शरीर स्वयंमें भी इतना ऊर्द्ध्वस्थ, आग्नेय और सूक्ष्म गति वाला बन गया था कि वे सूक्ष्मस्थ होकर अनेकानेक लोकोंमें, अनेकानेक अन्तरिक्ष पिंडों में, अनेकानेक शरीरोंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेमें समर्थ था। दुर्योधनको चतुर्दिक कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देते थे। गोपी ग्वालोंके साथ-साथ एक-एक कृष्ण थे और सोलह सहस्र गोपिकाओंके साथ १६ सहस्र कृष्ण रास करते थे। ये सब कृष्णकी योग विज्ञान-साधनाके आदर्श थे। इन सबमें भौतिकता-रहित विशुद्ध आध्यात्मिक विज्ञानकी पराकाष्ठा थी। आजका वैज्ञानिक स्वयंमें कुछ नहीं। उसके भौतिक यन्त्रोपकरण ही उसके विज्ञानके चमत्कार हैं। उसने पंचतत्त्व निर्मित अपने शरीर रूपी यन्त्रको कृष्णकी भाँति ऊद्ध्वंस्थ नहीं बनाया क्योंकि वह और उसका विज्ञान अध्यात्मोन्मुखी नहीं है। वास्तवमें श्रीकृष्णमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकारके विज्ञानोंका अलौकिक समन्वय-सायुज्य था। यही उनका योग था।

आजके वैज्ञानिकोंने मात्र पार्थिव तत्त्वोंके परमाणुओंको संयोजित करके एकमुखी उपलब्धि की है। मानवशरीरमें भी आग्नेय, नभोमंडलीय तत्त्वोंके प्राधान्य की न्यूनता है और पार्थिव, जलीय और वायविक तत्त्वों का प्राबल्य है। इस कारण यह पंचभूत शरीर अपने वास्तविक स्थूल रूपमें ऊर्द्ध्वोत्थित नहीं होता। योग विद्वान द्वारा जब इसमें आग्नेय तत्त्वकी प्रधानता होती है, तभी मानव बिना किसी बाह्य यानकी सहायताके अन्तरिक्ष मंडलमें भ्रमण कर सकता है, योगी साधक अपने सूक्ष्म शरीरसे भी सर्वत्र गतिवान बनता है। उल्लेख मिलता है कि श्रीकृष्णने अनुसन्धान द्वारा पृथिवी से रूशिणी', और 'रुधेनु' धातुओंका ज्ञान किया। वायुसे 'संकेतु', और जलसे 'त्रुटित जटा' नामक धातुओंको जाना। इन चारों धातुओंके योग द्वारा उन्होंने 'शुभोषमणि' नामक अद्भुत यन्त्रका आविष्कार किया। इस यन्त्रने अन्तरिक्षके परमाणुओंको एकत्र किया। इन अन्तरिक्षीय परमाणुओं द्वारा उन्होंने 'सुरकेतु' नामक एक अलौकिक विशालकाय यन्त्र विशेषका निर्माण किया। अन्यान्य महाणुओं, त्रिसरेणु और महात्रिसरेणुओंका एकत्रीकरण किया, जिनसे उन्होंने नाना यंत्र बनाये।

महाभारतके युद्ध में पक्ष-विपक्षकी ओरसे महाविनाशकारी परमायुधों—प्रक्षेपणास्त्रोंके प्रयोग हुए, जो सारे विश्वका सर्वनाश कर सकते थे। किन्तु श्रीकृष्ण भगवानने 'शृंगकेतु' नामक यन्त्र द्वारा युद्धक्षेत्रको रेखा-बद्ध कर रखा था। इस रेखाका प्रभाव यह था कि नाना परमाणु-आयुधोंका दुष्प्रभाव रेखासे बाहर नहीं जाता था। लक्ष्मणने माता सीता की रक्षार्थ यही 'शृंग' नामक रेखा खींची थी।

ये थे श्रीकृष्णके वैज्ञानिक चमत्कार जिनकी सहायतासे उन्होंने लोक-कल्याणार्थ नाना लोकरंजक अलौकिक कार्य सम्पन्न किये। आजके विज्ञानके लिये उनके आविष्कार चुनौती हैं। श्रीकृष्णकालकी वैज्ञानिक उन्नत दशाको प्राप्त करनेके लिए विश्वके वैज्ञानिकोंको अभी अनेक शताब्दियों पर्यन्त साधना करनी पड़ेगी। महाभारतादि पुराणोंके मंथन—आलोड़न द्वारा श्रीकृष्ण भगवान द्वारा आविष्कृत अनेक भौतिक चमत्कार प्रकाशमें आनेकी संभावनाएं हैं। जो आधुनिक आविष्कारों से गुण और मात्रामें अधिक शक्तिशाली सिद्ध हो सकते हैं।

●

प्रीति ही जीवन है

यद्यपि सूर्यके तापसे उत्पन्न हुए बादल सूर्यको ढकने का प्रयास करते हैं, परन्तु उन बादलों को छिन्न-छिन्न करनेकी सामर्थ्य भी सूर्यमें ही है। इसीप्रकार रागरूपी बादलोंका विनाश करने की सामर्थ्य अनुरागरूपी सूर्य में ही हैं।

ज्यों-ज्यों सुख-लोलुपता मिटती जाती है त्यों-त्यों प्रीति स्वतः उद्भासित होने लगती है। अतः प्रीति जाग्रत् करने के लिए हमें सुख-लोलुपता का अन्त करना परमावश्यक है।

—'कल्याण' से साभार

गीतोक्त पद्धतिसे सेवा-तत्त्वका विवेचन

सेवा

—श्रीकृष्णकिंकर

सेवाका विषय बहुत ही व्यापक और गम्भीर है। इसके सम्बन्धमें अनेकों प्रकारकी धारणाएं प्रचलित हैं। स्मृतियोंमें सेवाको "श्ववृत्ति" (कुत्तोंकीसी आजीविका) बताया है और उसे ब्राह्मणके लिए अकर्तव्य कहा है—'न श्ववृत्त्या कथंचन।' इसके विपरीत, "सेवा" का महत्त्व भी दृष्टिगोचर होता है। भर्तृहरिने तो यहां तक कहा है कि "सेवाधर्मः परम-गहनो योगिनामप्यगम्यः।" अर्थात् सेवाधर्म बड़ा ही गम्भीर तथा योगियोंके लिए भी अगम्य (दुर्बोध) है। गो० तुलसीदास जी ने भी "सेवकधर्म" को सबसे कठिन बताया है। लोकमें भी जहाँ "सेवा करे सो मेवा खाय" कह कर "सेवा" की महत्ता बतायी जाती है, वहीं स्वातन्त्र्य,प्रेमी शिक्षित समुदाय "सेवा" को "दासता" या "गुलामी" कहकर उसके प्रति अपनी अरुचि प्रकट करता है। "सेवा" शब्दका प्रयोग भी अनेक अर्थोंमें देखा जाता है, जैसे (१) आराधन और भजन अर्थमें—महान् "सेवा" देव-सेवा आदि। (२) स्वागत-सत्कार में—अतिथि-सेवा आदि। (३) शारीरिक सेवा—नहलाने-धुलाने चरण दबाने आदि के अर्थमें—गुरुजन-सेवा आदि। (४) दूसरोंको सुख पहुंचानेकी चेष्टामें—दीन दुखियोंकी सेवा आदि। (५) अवनतिके कारणोंको मिटा कर उन्नतिकी अवस्थामें ले जानेके, अर्थमें—देश-सेवा, जाति-सेवा और समाज-सेवा आदि। (६) भोग-भोगने अर्थमें—विषय-सेवन, स्त्री-सेवन, घृत-सेवन, औषध-सेवन आदि। (७) आश्रय लेने अर्थमें—तीर्थ-सेवन, शय्या-सेवन, गृह-सेवन आदि। दासता या गुलामी करनेके अर्थमें—राज-सेवा आदि।

उपर्युक्त सात अर्थोंमें से जो "भोग भोगना" रूप अर्थ है, वह सेवा शब्दका गौण अर्थ है, मुख्य नहीं। शेष जितने अर्थ बताए गए हैं, उन पर भी यदि गम्भीरतासे विचार किया जाय तो वे "पर-प्रीति" सम्पादन या परोपकारमें ही गतार्थ हो जाते है। वास्तवमें यही "सेवा" शब्दका फलितार्थ है। दूसरोंकी भलाईके लिए चेष्टा करते हुए उन्हें प्रसन्न करना अथवा उन्हें अच्छी स्थितिमें पहुंचाना—यही "सेवा" का शुभ उद्देश्य हैं। आराधन-

भजन, स्वागत-सत्कार आदि जितने भी अर्थ हैं, उन सबके द्वारा सेव्यकी प्रसन्नताका सम्यक् सम्पादन किया जाता है। अतः वैदिक परिभाषाके अनुसार "सेवा" यज्ञका ही दूसरा नाम है। वेदों और धर्म शास्त्रोंमें जो पंच महायज्ञोंका विधान है, उसके द्वारा— "सेवा" के लिए ही प्रेरणा मिलती है। देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्म-यज्ञ—ये ही पंच महायज्ञ कहलाते हैं। इनके द्वारा क्रमशः देवताओं, पितरों, मनुष्यों (अतिथियों), सम्पूर्ण भूतों (चराचर प्राणियों) तथा ऋषि-महर्षियोंको तृप्त करनेकी चेष्टा-की जाती है। इन्हींके भीतर सम्पूर्ण विश्व आ जाता है, अतः शास्त्रीय दृष्टिसे यह सम्पूर्ण विश्वको सुख पहुंचानेका प्रयत्न है। इसलिए इसको "वैश्वदेव" कर्म कहते हैं। "विश्व" ही इस कर्मका देवता है, अतः इसका नाम "वैश्वदेव" है। शब्दान्तरसे यह सम्पूर्ण जगत्की सेवा है। अतः सेवा ही यज्ञ है। स्वयं कष्ट सहन करके दूसरे प्राणियोंको सुख पहुंचाना "तप" कहलाता है। यह "तप" सेवाके भीतर गतार्थ हो जाता है, अतः सेवा ही तप है। देश, काल और पात्रकी आवश्यकताके अनुसार अन्न, वस्त्र और द्रव्यकी सहायता देना "दान" कहा गया है। इसका उद्देश्य भी दूसरोंको सुख पहुँचाना ही है, इस दृष्टिसे यह भी सेवाके ही अन्तर्गत है। अतः सेवा ही दान है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें यज्ञ, दान और तपके भीतर स्थिति होनेको "सत्" कहा गया है। तात्पर्य यह कि यज्ञ, दान तथा तपमें प्रवृत्ति होना ही सत्कर्म है। इसके सिवा भगवत्प्रीति के उद्देश्यसे जो भी कर्म किया जाता है वह सब 'सत्' ही है। इसके अनुसार 'सेवा' भी सत्कर्म ही है। श्रद्धा और परमार्थ बुद्धिसे की गयी "सेवा" अत्यन्त उत्तम कर्म है। जहाँ स्वार्थको ही आगे रखकर दूसरोंके कष्टकी परवा न करके किसी व्यक्ति विशेषकी "सेवा" की जाती है, वही निन्द्य है। इसीको "दासता" या गुलामी कह सकते हैं। जिस सेवा को "श्ववृत्ति" कहा गया है, वह लोभवश नीच-पुरुषकी सेवा है। वह ब्राह्मणके लिए तो निन्द्य है ही, दूसरेके लिए भी वन्द्य नहीं है। इसके सिवा ब्राह्मण को जीविकाके लिए अध्यापन करने (पढ़ाने) की आज्ञा है, किन्तु उसके लिए किसी "मासिक" लेनेकी नहीं। छात्र स्वयं ही प्रयत्न करके गुरुके भरण-पोषणका प्रयत्न करें। जैसा कि प्राचीन गुरुकुलोंमें होता आया है। मासिक लेनेसे वह "भूतकाध्यापन" हो जाता है, वह भी ब्राह्मणके लिए श्ववृत्ति है, अतः उसका निषेध किया गया। इसमें सेवाधर्मकी अपकृष्टता नहीं सिद्ध होती, अपितु विशुद्ध "सेवा धर्म" की उत्कृष्टता ही प्रमाणित होती है। शिष्यके लिए गुरुकी परिचर्या ही "सेवा" है तथा गुरुके लिए शिष्यको उत्तम शिक्षा देना ही "सेवा" कहा गया है। श्रद्धा और परमार्थ-बुद्धिका योग होनेसे दोनों ही प्रकारकी सेवाएं सत्कर्म हैं, अश्रद्धा और स्वार्थसे कलङ्कित होने पर दोनों ही 'असत्' हो जाती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियोंमें "सेवा" के विशुद्ध स्वरूपको बतानेकी चेष्टा की गयी है, अब उसके कुछ प्रकार बतलाये जाते हैं। यज्ञरूप सेवाके तीन भेद होते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। स्वार्थ या फलकी इच्छा छोड़कर शास्त्रीय आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-बुद्धिसे जो

यज्ञ (परोपकार तथा हवन-पूजन आदि) किया जाता है, वह सात्विक यज्ञ है। कोई स्वार्थ या कामना लेकर अथवा दम्भ (दिखावे) के लिए जो यज्ञ किया जाता है, यह राजस यज्ञ है। शास्त्रीय विधिकी अवहेलना करके मन्त्र और दक्षिणाके विना ही किया हुआ श्रद्धाहीन यज्ञ तामस है। शास्त्रीय कामोंमें विधि, मन्त्र और दक्षिणाकी प्रधानता है, इनके विना उस कर्मका कोई फल नहीं होता। उसका करना न करना बराबर होता है। देश-सेवा जाति-सेवा और परोपकार आदि जो लौकिक कर्म हैं, इनमें भी सात्विक आदि भेद होते हैं। जहां व्यक्तिगत स्वार्थ एवं फलेच्छाका त्याग है, तथापि सेवाका कार्य खूब मन लगा कर दिलचस्पीके साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए महात्मा गान्धी द्वाराकी जाने वाली देश सेवा सात्विक हैं। जहां नाम और यश की इच्छा नहीं है, वहां सात्विक सेवा होती है। जहां अखबारोंमें मोटे अक्षरों में अपना नाम छपे देखने की उत्कंठा है, लोगों में धाक जमानेके लिए परोपकारका कार्य हाथमें लिया गया है, वहां राजस सेवा है। सात्विक और राजस सेवामें आकाश-पाताल का अन्तर है। जहां श्रद्धा और उत्साह नहीं है, अवहेलना और उपेक्षापूर्वक केवल भार टालनेके लिए कुछ सेवा कार्य किया जाता है। वास्तवमें वह सेवा है ही नहीं वह तो "न च तत्प्रेत्य नो इह" न इह लोकके लिए हैं, न परलोक के लिए।

दानरूप यज्ञ भी सात्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके हैं। जहां देश, काल और पात्रकी आवश्यकताके अनुरूप कर्त्तव्य बुद्धिसे ऐसे व्यक्तिको दान दिया जाता हैं, जिससे अपना कोई उपकार न हुआ हो, वह सात्विक दान है। देशकी आवश्यकताका तात्पर्य यह है कि जिस देशमें जो वस्तु दुर्लभ हो रही हो वहां उसका प्रवन्ध करना जैसे मरु देशमें जलका कष्ट है, अतः वहां जलकी व्यवस्था करना उत्तम है, तीर्थ स्थानमें किये हुए दानको विशेष उत्तम बताया गया है, अतः वह भी दान का उत्तम देश है। कालसे अभिप्राय है अवसर या सामाजिक आवश्यकता से। जैसे कहीं अकाल पड़ा है, कहीं बाढ़ आयी है तथा कहीं महामारी फैल रही है, वहां कोई भी देश हो, दानका उत्तम अवसर है। वहां द्रव्य अन्न, वस्त्र तथा औषधका प्रबन्ध करना उत्तम दान हैं। ग्रहण और संक्रान्ति आदि पर्व भी दानके उत्तम काल हैं। जाड़े में ओढ़नेका वस्त्र देना, वर्षामें रहनेका स्थान बनवाना और गर्मीमें पौंसलेका प्रबन्ध करना भी कालके विचारसे उत्तम दान है। पात्रसे व्यक्तिकी ओर संकेत किया गया है। विद्वान् श्रोत्रिय एवं सदाचारी ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र है, किन्तु यदि कई दिनोंका भूखा चण्डाल ही द्वार पर आजाय तो वह उस समय अन्नदानका सर्वोत्तम पात्र होता है। दान भी कर्तव्य-बुद्धिसे देना चाहिए। भगवान्ने हमें इसीलिए धन दिया है, कि हम इससे देशकी, दीन-दुखियोंकी सेवा करें। दान हमारा कर्त्तव्य है। हम दान देकर किसी पर एहसान नहीं करते हैं, बल्कि अपने आवश्यक कर्त्तव्य का पालनमात्र कर रहे हैं, इस भावसे दान देना उत्तम है। वह भी ऐसे व्यक्ति को देना चाहिए, जिससे अपना कोई उपकार न हुआ हो। उपकारीको दिया हुआ दान तो उसके उपकारका बदला हो जाता है। अतः वह सात्विक नहीं

है। इसका यह अर्थ नहीं कि उपकारीको धन न दे। उसे अवश्य देना चाहिए, न देनेसे उसका ऋण अपने ऊपर रहता है। किन्तु उसे 'दान' समझकर न दे। यह सात्त्विक दानकी व्याख्या हुई। जहां बदला पानेकी इच्छासे या कोई स्वार्थ रख कर क्लेश पूर्वक दान दिया जाता है, वहांका दान राजस है। मान, बड़ाई प्रतिष्ठा या नामवरी के लिए दिया हुआ दान भी इसी श्रेणीमें है। देश, काल और प्रान्तका विचार न करके जो कुछ दिया जाता है, वह तामस है। किसी शराबी, जुआरी या व्यभिचारी को रुपया पैसा देना अपात्र को दान करना है। देश-कालकी आवश्यकताके विपरीत दान देना 'अदेश' और 'अकाल' दान कहलाता है। यह सब तामस है। इसके सिवा, किसी गरीबको भी यदि डांट फटकार कर अपमानित करके कुछ दिया गया तो वह भी तामस ही है। उससे उलटा पाप ही होता है।

तप रूप जो सेवा बतायी गयी है, उसके पहले तीन भेद होते हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। फिर एक-एक के सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन तीन प्रकार और होते हैं। इस प्रकार कुल नव भेद हैं। देवता, ब्राह्मण गुरु, विद्वान् तथा संत-महात्माओं का सत्कार करना, उनकी आज्ञाके अनुसार चलना, शरीरको साफ़ रखना सरलतापूर्वक बर्ताव करना, ब्रह्मचर्यका पालन करना तथा किसी भी जीवको कष्ट न पहुंचाना—शारीरिक तप है। माता-पिता, गुरु, दीन-दुखी, बीमार अनाथ और असहायको शारीरिक सेवाके द्वारा सुख पहुँचाना-शारीरिक तपस्याके अन्तर्गत है। देश, जाति या समाज की शारीरिक सेवा भी इसी श्रेणी में है। ऐसी बात मुंहसे निकालना, जिसे सुनकर किसी को उद्वेग न हो, सत्य बोलना, सत्य होने के साथ ही प्रिय बोलना तथा प्रिय होनेके साथ-साथ हितकर वचन बोलना और सद्ग्रन्थोंको स्वाध्याय करना—यह वाचिक तपस्या है। अप्रिय सत्य कहनेकी अपेक्षा मौन रहना उत्तम है। यदि सत्य कहनेसे किसीका अहित होता हो तो वह सत्य भी असत्य है। सत्यका परिणाम कभी अहित नहीं हो सकता। यदि कहीं झूठ बोलनेसे किसी अच्छे पुरुषका प्राण बचता हो तो वहां झूठ ही सत्य है। वाणीके द्वारा दूसरों-को सुख पहुंचाने की चेष्टा भी वाचिक सेवा या तपस्या है। सदा ऐसी ही वाणी मुंह से निकालनी चाहिए, जिसमें दूसरोंके लिए शुभ-कामना भरी हो। यथा 'सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः"—सब सुखी हों, सभी निरोग रहें। इत्यादि। मन का प्रसन्न रहना, मनमें क्रूरताका न आना मनको अपने वशमें रखना, और आन्तरिक भाव को शुद्ध, बनाये रहना—यह मानसिक तपस्या है। मन के द्वारा सदा दूसरों को—सम्पूर्ण जगत्को सुख पहुंचानेका संकल्प करना, सब के कल्याण की मङ्गल-कामना करते रहना भी मानसिक सेवा है। यह त्रिविध सेवा या तपस्या जब पूर्ण श्रद्धासे युक्त और फलकी इच्छासे रहित हो तो सात्त्विक कहलाती है। जब दूसरोंसे सत्कार, मान और पूजा पानेके लिए अथवा दिखानेके लिए यह तपस्या होती है तो वह राजस कहलाती है। तात्विक और राजस तपस्या में वहीं अन्तर है जो एक सच्चे तपस्वी तथा बहुरूपिये या बाज़ीगरकी चेष्टामें होता है। एक जगह सच्चाई है और दूसरी जगह दम्भ। एक जगह परमार्थ है और दूसरी जगह नग्न स्वार्थ। जब दुराग्रहवश दूसरों-

को कष्ट पहुंचानेके लिए अपने शरीरको कष्ट करते हुए तपस्या की जाती है, तो वह 'तामस' कहलाती है। ऊपरसे कष्ट उठा कर तपस्या करना और भीतरसे किसीके प्राण लेनेका संकल्प करना यही तामस तपस्या है। यह 'सेवा' नहीं पाप है। जहां दूसरेको कष्ट पहुंचानेका भाव आ गया वहीं स्वरूप से 'पुण्य' कर्म भी वास्तव में पापकर्म बन जाता है। परोपकार ही पुण्य है और पर अपकार ही पाप-"परोपकार: पुण्याय, पापाय परपीडनम्।"

ऊपर जो कुछ कहा गया, उसका सारांश इस प्रकार समझना चाहिए। (१) स्वार्थ छोड़कर दूसरोंका हित-साधन करना उत्तम या सात्त्विक सेवा है, इसके आचरण करने वाले पुरुष संत महात्माओंकी कोटि में गिने जाते हैं। (२) स्वार्थ-साधन करते हुए परोपकार की चेष्टा करना—यह मध्यम कोटि की या राजस सेवा है। इसके आचरण करने वाले साधारण लोग हैं। (३) स्वार्थके लिये दूसरोंके हितमें बाधा पहुंचाना—यह नीच श्रेणीकी चेष्टा या तामस कर्म है। इसे सेवा नहीं कह सकते। जहां परोपकार की गन्ध नहीं, वहां सेवा का नाम भी नहीं है। इस तीसरी श्रेणी के कर्म करने वाले लोग मनुष्योंमें राक्षस हैं। (४) अपना स्वार्थ न होते हुए भी अकारण ही दूसरोंके हितमें बाधा पहुंचाना—यह नीचातिनीच कर्म है। इसे करने वाले मनुष्य किस श्रेणी में रक्खे जांय—यह कहना कठिन है। भर्तृहरि के निम्नाङ्कित श्लोक में इसी भावका बड़ी सुन्दरतासे प्रतिपादन किया गया है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये,
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

सेवा-सुख

हमारी अब सब बनी भली है॥
कुंजमहलकी टहल दई मोहि जहां नित रंग रली है॥
साहिब स्यामा स्याम उसीली ललिता ललित अली है।
नागरिया पै कृपा करी अति श्री बृषभान अली है।

—सन्त श्री नागरीदास

अस्पृश्यताकी समस्या

श्रीजयदयाल डालमिया

●

स्मृति और सूत्र ग्रंथोमें जहाँ-जहाँ स्पृश्यास्पृश्यताका विधान है उससे वर्तमान राजनैतिक नेता और आर्यसमाजी भाई—सभी बहुत नाराज हैं। कोई-कोई तो उन ग्रन्थोंको जला डालनेको भी तैयार हैं तथा आर्यसमाजके प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्दजीका बहुत उदाहरण देते हैं कि उन्होंने छुआछूतके सिद्धान्तको स्वीकार न करके 'आत्मवत् सर्वभूतेषु', 'वसुधैव कुटुम्बम्', 'अमृतस्य पुत्राः' एवं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' का सिद्धान्त माना है। मैं ऋषि दयानन्दजीके आधुनिक कालके प्रगतिशील धर्मग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' के कुछ उद्धरण नीचे देता हूँ। इन उद्धरणोंमें पृष्ठ आदिका संकेत सर्वश्री गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली द्वारा प्रकाशित दिसम्बर १९६५ के संस्करणसे दिया जा रहा है—

पृष्ठ ३४०

"भला जब कोई तुमसे पूछेगा कि जैसे चमड़ेका शरीर माता, सास, बहिन, कन्या, पुत्रवधूका है, वैसा ही अपनी स्त्रीका भी है तो क्या माता आदि स्त्रियोंके साथ भी स्व-स्त्रीके समान बरतोगे? तब तुमको संकुचित होकर चुप ही रहना पड़ेगा।"

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट है कि 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव सबसे एक-सा व्यवहार करनेका नहीं है, बल्कि सबसे एक ही आत्मा होने पर भी भिन्न-भिन्न शरीरके साथ उसके अनुरूप ही व्यवहार नितान्त आवश्यक माना गया है।

आर्य समाजके प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्दजीने रजस्वलाके स्पर्शको निषिद्ध माना है (देखिये पृष्ठ ३५७, पंक्ति १७)। यदि कहीं असावधानीसे रजस्वलासे स्पर्श हो जाय तो उसकी शुद्धि किस प्रकार होगी, यह स्पष्ट रूपसे 'सत्यार्थ प्रकाश' में कहीं भी देखनेमें नहीं आया। आर्यसमाजके आचार्योंकी इस विषय में क्या मान्यता है, इसको बतानेकी कृपा करे। रजस्वला स्त्रीसे स्पर्श हो जाने पर भी वे स्नानकी आवश्यकता न समझते हों तो स्पर्श-

निषेधकी क्या सार्थकता है ? स्पर्श-निषेधका भाव यदि यह लिया जाय कि उन दिनों उनसे कामोपभोग न किया जाय तो यह तो रजस्रावके समयमें सम्भव ही नहीं है। आधुनिक प्रगतिशील समाजवाले, जो रजस्वला पत्नीकी कमरमें हाथ डाले रहते हैं और साथ ही शयन करते हैं, वे भी वैसा तो नहीं करते।

पृष्ठ ३३३-३३४

(१५) प्रश्न—"द्विज अपने हाथसे रसोई बनाके खावें वा शूद्रके हाथकी बनाई खावें ?"
उत्तर—"शूद्रके हाथकी बनाई खावें; क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णस्थ स्त्री-पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्यपालन, खेती और पशुपालन व्यापारके काममें तत्पर रहें और शूद्रके पात्र तथा उसके घरका पका हुआ अन्न आपत्कालके बिना न खावें।"

(१६) "आर्योंके घरमें शूद्र अर्थात् मूर्ख स्त्री-पुरुष पाकादि सेवा करें, परन्तु वे शरीर वस्त्र आदिसे पवित्र रहें, आर्योंके घरमें जब रसोई बनावें तब मुख बाँधके बनावें। क्योंकि उनके मुखसे उच्छिष्ट और निकला हुआ श्वास भी अन्नमें न पड़े। आठवें दिन क्षौर, नखच्छेदन करावें, स्नान करके पाक बनाया करें, आर्योंको खिला के आप खावें।"

यहाँ शूद्रके हाथका अपने घर पर बनाये हुए भोजनको खानेकी अनुमति दी गयी है, शूद्रके पात्रमें और उसके घरका पका हुआ खानेकी अनुमति नहीं दी है। शूद्र जब पाक-कार्य करें तो मुँहको कपड़ेसे बाँध लें और अपने उच्छिष्ट तथा श्वासका खानेके सामानसे स्पर्श न होने दें।

इससे अनुमान यह निकलता है कि यदि शूद्रके अतिरिक्त आर्योंके घरका ही कोई अपने वर्णका व्यक्ति पाक-कार्य करे तो उसको मुह बाँधनेकी आवश्यकता नहीं है। उसका उच्छिष्ट और श्वास खानेके सामानमें लगे तो आपत्ति नहीं है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' होते हुए भी यह भेद आवश्यकीय समझकर ही ऋषि दयानन्दजी द्वारा रक्खा गया है।

पाक-कार्य करने वाले शूद्रको यहाँ पर मूर्ख विशेषण दिया गया है। मूर्खकी क्या परिभाषा है ?

पृष्ठ १३४ पर महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय २३ के दो श्लोकोंका उद्धरण देकर मूर्खके लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

१. जिसने कोई शास्त्र पढ़ा-सुना न हो,

२. जो अतीव घमण्डी हो,

३. जो दरिद्री होकर बड़े-बड़े मनोरथ करने वाला हो,

४. जो विना कर्मके पदार्थोंकी प्राप्तिकी इच्छा करने वाला हो,

५. जो विना बुलाये सभा या किसी के घरमें प्रविष्ट हो,

६. जो उच्च आसन पर बैठना चाहे,

७. जो विना पूछे सभामें बहुत-सा वके, और

८. जो विश्वासके अयोग्य वस्तु वा मनुष्यमें विश्वास करे।

इस व्याख्याके अनुसार तो समाजके बहुत-से लोग इस श्रेणीमें आ जायेंगे। इसकी और सरल व्याख्यापर विचार करना चाहिये।

साधारणतया किसी बुद्धिमान व्यक्तिके सम्मुख उसकी अपेक्षा कम बुद्धिवाला व्यक्ति मूर्ख होता है। इस परिभाषाको स्वीकार कर लिया जाय तो एक सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ परमात्माको छोड़कर सभी मूर्ख है क्योंकि सबको सर्व-ज्ञान तो हो ही नहीं सकता।

यदि अक्षर-ज्ञान हीनताको मूर्खताका विशेषण दिया जाय तो जिनको अक्षर-ज्ञान का अवसर नहीं दिया गया उन वेचारे अक्षर-ज्ञान हीन शूद्रोंका इसमें क्या दोष है? यह दोष तो राज्य एवं समाजका है। पाक करने वाले शूद्रको पाक कला ज्ञान तो है ही, तभी वह पाक-कार्य करता है। वेदज्ञको पाक-कार्य न करनेसे पाक-कला-ज्ञान नहीं भी हो सकना है। अत: वह वेदज्ञ वेदका ज्ञानी होकर भी पाक-कलाका अज्ञानी होनेसे पाक-कला जाननेवाले शूद्रके सम्मुख पाक-कार्यमें तो मूर्ख ही है। तव शूद्रके लिये मूर्ख विशेषणकी क्या आवश्यकता रहती है? कुछ समझमें नहीं आता।

पष्ठ ३३६

"मद्य-मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य-मांसके परमाणुओं ही से पूरित है उनके हाथका न खावे।"

यहाँ मद्य-मांसाहारी को म्लेच्छ वताया गया है। होटल, रैस्टोरण्ट—जहाँ पर मांस पकता है और मद्य पिया जाता है—वहाँके सारे परमाणु ही मद्य-मांससे पूरित रहते हैं। होटल-रेस्टोरैण्ट आदिमें खानेका परहेज करने पर दवाव डाला जाय तो आधुनिक प्रगतिशील समाजवाले लोग बुरा मानेंगे और कहेंगे कि ऐसे धर्म-ग्रंथोंको जला दिया जाय जो मद्य-मांसाहारी सभी लोगोंको म्लेच्छ और अस्पृश्य बताते हैं। यदि इस उपदेशको स्वीकार करके आचरणीय मान लिया जाय तो मद्य-मांसका प्रचार करने वाली वर्तमान सरकारका क्या किया जायगा?

पहले तो शाकाहारी रेस्टोरैण्ट अलग हुआ करते थे। अब तो भेद-भाव मिटानेके नाम पर सरकारके नियन्त्रणमें, विशेष रूपसे रेलवे स्टेशनोंपर, जितने रेस्टोरैण्ट हैं उन सभीमें मद्य-मांस चलता है। आजकलके प्रगतिशील समाजके लोग तो प्रायः सभी होटलों और रेस्टोरैण्टोंमें खाते हैं। उनमेंसे अनेक तो खुले आम मद्य-मांस का सेवन भी करते हैं। किसीकी हिम्मत है क्या, कि उनको म्लेच्छ कहे और उनके साथ या उनके हाथका छुआ खानेमें आपत्ति करे?

पृष्ठ ३४०

(३५) प्रश्न—"कहोजी! मनुष्यमात्रके हाथ की हुई रसोई, उस अन्नके खानेमें क्या दोष है? क्योंकि ब्राह्मणसे लेकर चांडाल पर्यन्तके शरीर हाड़-मांस चमड़ेके हैं। और जैसा रुधिर ब्राह्मणके शरीरमें है वैसा ही चांडाल आदिके। पुनः मनुष्यमात्रके हाथकी पकी हुई रसोईके खानेमें क्या दोष है?

उत्तर—"दोष है, क्योंकि जिन उत्तम पदार्थोंके खाने-पीनेसे ब्राह्मण और ब्राह्मणी के शरीरमें दुर्गन्धादि दोष रहित रज-वीर्य उत्पन्न होता है वैसा चांडाल और चांडालीके शरीरमें नहीं, क्योंकि चांडालका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है वैसा ब्राह्मणादि वर्णोंका नहीं। इसलिये ब्राह्मणादि उत्तम वर्णोंके हाथका खाना और चांडालादि नीच भंगी चमार आदिका न खाना।"

यहाँ पर ब्राह्मण-ब्राह्मणीके शरीरमें दुर्गन्धादि दोषरहित रज-वीर्य उत्पन्न होना बताया है, चाण्डाल चाण्डालीके शरीरमें नहीं, क्योंकि उनका शरीर दुर्गन्धके परमाणुओंसे भरा हुआ होता है, वैसा ब्राह्मण वर्णोंका नहीं। शरीर तो माता-पिताके रज-वीर्यसे बनता है। पाठक इसका अर्थ लगावें कि इसका मतलब ब्राह्मण-शरीर जन्मसे हुआ या गुण-कर्म से? और चांडाल, भंगी, चमार आदिका शरीर भी जन्मसे बना या गुण-कर्मसे? यदि यह कहा जाय कि एक बार तो जन्मसे ब्राह्मण, चांडाल, भंगी, चमार आदि वर्ण हुए, किन्तु बादमें बड़ी अवस्था होनेके बाद उनका वर्ण गुण-कर्मसे बदल जाता है तो फिर रज-वीर्य जो पहले उत्पन्न हो चुके होते हैं वे बदले जा सकते हैं क्या? वे रज-वीर्य, जो इस शरीरमें उत्पन्न हो चुके हैं, शरीरसे निकलकर उसमें दूसरे रज-वीर्य तो आ नहीं सकते। यदि वे बदले जा सकते हैं तो किस प्रकार और कितने समयमें? आजके वैज्ञानिक युगमें विज्ञानने कोई परीक्षण करके यह निश्चय किया है क्या कि शरीरके रज-वीर्य बदल जाते हैं? यदि किया है तो उसके परिणामोंका उल्लेख कहाँ पर है?

आजकल शरीरकी शल्यक्रिया (आपरेशन) के बाद कई बार शरीरमें रक्त चढ़ाने की आवश्यकता होती है। रक्तकी कुछ श्रेणियाँ हैं। जिसके शरीरमें रक्त चढ़ाना हो उसके

रक्तसे जो दूसरा रक्त मिलता है उसी रक्तको उसके शरीरमें चढ़ाया जाता है। रक्तकी परीक्षा करने वाले विशेषज्ञोंसे पूछिये तो आजका विज्ञान मांसाहारी म्लेच्छ दुर्गन्धयुक्त मेहतर, चमार और शाकाहारी आर्यके रक्तका मेल न खाय, ऐसी बात नहीं बताता। सम्भव है, सूक्ष्म परमाणुओंमें भेद रहता हो जिसका पता आजके विज्ञानकी रासायनिक-विश्लेषण-क्रिया नहीं लगा सकती।

यहाँ चाण्डाल आदि भंगी-चमारको 'नीच' विशेषण दिया गया है। उन्होंने वर्तमान जन्ममें कौन-सा नीचताका काम किया है? भंगी-चमारके घरमें जन्म लेना 'नीच काम' कहा जाय तो यह तो उनके वशकी बात थी नहीं। पूर्व जन्ममें हो सकता है, उनसे नीच कर्म बना हो जिससे उनका जन्म ऐसे घरमें हुआ। यदि पूर्व जन्मके उनके कर्मोंके कारण उनको नीच कहा गया है तो फिर क्या उनकी यह जाति, उनका यह वर्ण जन्मसे नहीं हुआ?

यदि समाजकी हीन सेवाका नाम ही 'नीचता' है तो उन्होंने यह नीचता स्वीकार करके समाजका उपकार किया है। उपकार करने वालेका इस तरह नीच कहकर अपमान करना उचित है क्या? यदि यह कहा जाय कि वे हीन सेवा करते हैं, इससे नीच नहीं, बल्कि दूसरे चोरी, शराब आदि जैसे दुर्व्यसनोंमें लिप्त होनेके कारण वे नीच हैं तो क्या वे चोरी आदि केवल ऐश आराम भोगनेके लिये ही करते हैं। समाजके जो सम्पन्न लोग ऐश-आराम भोगने के लिये चोरी करते हैं वे तो समाज में सम्मान्य गिने जाते है और जो गरीब हीन सेवा करके पेट भरने मात्रकी भी मजदूरी न पा सकनेके कारण पेट भरनेके लिये चोरी करनेके लिए बाध्य होते हैं उनको नीच कहा जाता है। यह राज्यके कानूनमें भले ही अपराध हो, किन्तु ईश्वरके कानूनमें तो जो विलासिताके लिए चोरी करते हैं और आवश्यकतासे अधिक ऐश-आरामकी वस्तुओंका उपभोग करके गरीबोंको जीवन-धारणकी वस्तुओंसे भी वंचित करते हैं वे ही बड़े अपराधी है। राज्यके कानूनमें भले ही वे दण्डनीय न हों, लेकिन ईश्वरके यहाँ उनको उसका परिणाम अवश्य भोगना पड़ेगा।

यदि उन गरीबोंके चोरीके व्यसनको इतना बुरा न मानकर शराब पीनेके व्यसनको बुरा माना जाय और इसलिये नीच कहा जाय तो इसमें भी उनका कोई दोष नहीं। सरकार एक्साइजकी आमदनी करनेके लिये शराबके ठेके नीलाम करती है और वे ठेकेदार उन गरीबोंके मोहल्लोंमें शराबकी दूकानें खोलकर जो थोड़ी-बहुत उन गरीबोंकी आजीविका की आय होती है उसका शोषण करके सरकारके खजानेमें सत्ताधारियोंके ऐश-आरामके लिये पहुँचा देते हैं और वे गरीब तथा उनके बच्चे पेट भरनेको मोहताज बने रहते हैं। महात्मा गांधीजीने बहुत चाहा कि देशमें शराब-बन्दी हो जाय, लेकिन इसका तो अधिकाधिक प्रचार हो रहा है, जो एक्साइजकी आमदनीके आँकड़ोंसे जाँचा जा सकता है।

इसलिये चाण्डाल, भंगी चमार आदिको ऊपर दिये गये तर्कके अनुसार मूर्ख नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये सभी अपने-अपने व्यापार में दक्ष हैं। चमार जैसे जूते बनाकर दे सकता है वैसे जूते वेदज्ञ ब्राह्मण बनाकर नहीं दे सकता। अतः जैसे ब्राह्मणके कार्यमें चमार मूर्ख है वैसे ही चमार के कार्य में ब्राह्मण मूर्ख है। अतः शूद्रके लिये मूर्ख विशेषणकी क्या सार्थकता है ? 'सत्यार्थ प्रकाश' को मानने वाले कोई आर्यसमाजी आचार्य इन सब बातोंको समझाने की कृपा करें।

यदि यह कहा जाय कि शूद्र—चाण्डाल, मेहतर चमार आदि—स्वभावसे मूर्ख होते हैं और वे बुद्धिमान नहीं बनाये जा सकते तो यह बात सिद्धान्त के विरुद्ध है—

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिल पर करत निसान॥

आवश्यकता है उनको अवसर देनेकी और उनपर परिश्रम करनेकी। उनके लिये नौकरीकी जगहोंका आरक्षण कर देने मात्रसे वे सुयोग्य नहीं बन सकते। विद्यालयोंके सरकारी नियमोंके अनुसार उन्हें पढ़ाने-लिखानेकी व्यवस्थाकी प्रतीक्षा की जाय तो इसके लिये तो युगों प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। न उतने विद्यालय-भवनोंके लिये सामान है, न धन और न अध्यापक। यदि प्रत्येक हरिजनको एक निश्चित स्तर तक शिक्षित बना देनेकी एवजमें शिक्षित बनाने वाले व्यक्तियोंको एक निश्चित पुरस्कार देनेकी घोषणा की जाय और उस पुरस्कारके मिलनेमें लाल-फीताशाही (रेड टेपिज्म) की कठिनाई उपस्थित न की जाय तो स्वयं ही अनेक शिक्षक और पाठशालायें तैयार हो जायेंगी।

फिर प्रश्न उठता है कि हरिजन पढ़ना-लिखना न चाहें तो क्या किया जाय ? हरिजन परिवार प्रायः सभी इतने गरीब हैं कि वे अपने बच्चोंकी उम्र काम करने लायक होते ही उनसे काम करवाकर कुछ आमदनी करवाने लगते हैं। ऐसे हरिजन परिवारोंका गुजर चल सके, इसके लिये उनको भी, वे अपने बालकके द्वारा जितनी आय पैदा कर सकते हैं उतनी सहायता (सब्सिडी) दी जाय और उस हरिजन बालकको योग्य होते ही उसके योग्य कार्य देकर उसको आजीविकासे वंचित न होने दिया जाय। यह कर्त्तव्य सरकारका होता है, समाजका व्यक्ति अलग-अलग कुछ नहीं कर सकता।

फिर प्रश्न उठेगा कि यदि हरिजनोंको पढ़ा-लिखा दिया गया तो उनके द्वारा जो हीन श्रेणीकी सेवा समाजको मिलती है वह कैसे मिलेगी ? इसका उत्तर है कि 'आत्मवत्', सर्वभूतेषु', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'अमृतस्य पुत्राः' एवं ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' सिद्धान्तके अनुसार जो हीन सेवा दूसरे व्यक्तिकी हम स्वयं करनेको तैयार नहीं या अपने बालकोंसे करवानेको तैयार नहीं, वैसी ही हीन सेवा लेनेका अधिकार हमको ईश्वरके

या राज्यके या समाजके किस नियमने दिया है ? यदि अपनी हीन सेवा व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता है और दूसरोंसे ही लेना चाहता है तो इससे स्पष्ट है कि वह व्यक्ति हरिजनोंके लिये नकली आँसू बहाकर और झूठे नारे लगाकर केवल नाटक रच रहा है, उसमें वास्तविकता रत्ती भर भी नहीं है।

शास्त्रोंके अनुसार व्याध (मृग आदि अन्य पशुओंकी हिंसा करनेवाला), बहेलिया (चिड़ियोंको जालमें फंसानेवाला), कसाई (पशुओंकी हत्या करनेवाला), जल्लाद(राजाज्ञासे मनुष्योंको प्राण-दण्ड देनेवाला), चाण्डाल (मरे हुए पशुओंकी खाल उधेड़नेवाला तथा उन मरे हुए पशुओंका मांस खानेवाला), चमार (चमड़ा कमानेवाला और जूते बनानेवाला), मेहतर (पाखाना साफ करनेवाला और उसे उठाकर ले जानेवाला) मछुआ (मछली आदि जल-जन्तुओंको मारनेवाला) इत्यादि लोग अपने व्यापार (पेशे) के कारण अस्पृश्य कहे गये हैं। इन सबके अतिरिक्त नाई (हजामत बनानेवाले), लोहार-सोनार (लोहे और सोनेका काम करनेवाले), धोबी (कपड़ा धोनेवाले), रंगरेज (कपड़ा रंगनेवाले) इत्यादि व्यापार (पेशे) वाले लोग भी कइयोंके द्वारा अस्पृश्य माने जाते हैं, लेकिन व्यवहारमें ऐसा प्रायः देखनेमें नहीं आता कि इनका स्पर्श होनेपर लोग स्नान करते ही हों। नाईसे हजामत बनवानेपर तो बहुतसे प्राचीन विचारों वाले लोग स्नान करते हैं, किन्तु आधुनिक प्रगतिशील समाजके लोग स्नान नहीं करते।

इन सबमेंसे मेहतर (भंगी) एक ऐसी श्रेणी है जिसको समाजके सब लोगोंकी प्रतिदिन सेवा करनी पड़ती है और इस सेवाके कारण उसको समाजमें सभीके सम्पर्कमें नित्य आना होता है। अन्य श्रेणीके अस्पृश्य कहे जानेवालेका समाजसे नित्यका इतना सम्बन्ध नहीं, जितना मेहतरका है। इसलिये अन्य व्यापार (पेशे) वालोंसे कभी स्पर्श हो जाय तो लोग उसको पहचानते नहीं, जिससे कारण किसीके ध्यानमें नहीं आता कि अस्पृश्यसे स्पर्श हुआ है। मेहतर से प्रतिदिन सम्पर्क होने के कारण सभी उसको पहचानते हैं। अतः उसके स्पर्शसे सभी आपत्ति करते हैं। अन्य अस्पृश्य मानेजाने वाले लोग भी मेहतरको छूनेमें तो आपत्ति करते हैं। उसके साथ रोटी-बेटीका व्यवहारतो कदापि नहीं करना चाहते और वे आपसमें भी नहीं करना चाहते।

अनेक प्रकारकी हीन सेवाओंमें सबसे बढ़कर हीन सेवा पाखाना उठानेकी और पाखाना साफ़ करनेकी है। महात्मागांधीजीने जब हरिजन-उद्धारका काम हाथमें लिया था तो उन्होंने स्वयं अपना पाखाना साफ करना आरम्भ कर दिया था और मेहतर को रसोई घर में भोजन बनाने का अधिकार दिया था तथा अपने साथ एक पांत में बैठ कर खाने का भी।

राजनैतिक नेताओं, सामाजिक नेताओं एवं धर्माचार्यों—इन सबमेंसे जिन-जिनने

भी पुरीके जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजीके प्रकाशित विचारोंके प्रति शिष्ट या अशिष्ट भाषामें अपनी असहमति प्रकट की है उनमेंसे कौन-कौन हरिजनोंको ऊंचा उठानेके लिये सामने आते हैं—यह देखना है । यदि वे अपनी घृणित सेवा स्वयं अपने हाथसे नहीं कर सकते—दूसरे की करनी तो दूर रही—तो 'आत्मवत सर्वंभूतेषु', 'वसुधैव कुटुम्बकम्', 'अमृतस्य पुत्राः' एवं 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' के अन्तर्गत समाजके किसी अन्य सदस्यसे उनको वैसी सेवा लेनेका अधिकार ईश्वर, राज्य अथवा समाजके किस नियमसे मिला है—यह वे बतावें ।

समता ही जग माँहि ब्रह्म कौ ज्ञान करावै ।
समदरसी जो पुरुष वही मेरे मन भावै ।।
सबमें करि समभाव सबनि परमात्मा पेखें ।
अपनी आत्मा स्वयं हनैं नहिं सत ही देखें ।।
समदरसी सद्गति लहै, समदरसी कूँ कौन दुख ।
समदरसी ही जगतमें, पावें सबतें अधिक सुख ।।

आषाढ़ मासके पावन पर्व

रथयात्रा, हरिशयनी तथा गुरुपूर्णिमा

●

रथयात्रा—

आषाढ़ शुक्ला द्वितीयाको रथयात्राका उत्सव होता है। स्कन्ध पुराणमें कहा गया है कि आषाढ़मासके शुक्ल पक्षमें द्वितीया तिथिको व्रती पुरुष पुष्य नक्षत्रके योगमें भगवान श्रीकृष्ण,बलराम और सुभद्राकी प्रतिमाको रथमें पधराकर रथयात्राका उत्सव मनावें—उस रथको भक्तजन खींचकर किसी जलाशय तक ले जायें और वहाँ नामकीर्तन तथा गीत-वाद्य के द्वारा वहुसंख्यक नर-नारी इस प्रकार रथयात्राका उत्सव मनाकर ब्राह्मणोंको भोजन आदि से तृप्त करें और देव-विग्रहोंको पुनः मन्दिरमें प्रतिष्ठित कर दें। यदि पुष्य नक्षत्रका योग न हो तो भी केवल द्वितीया तिथिमें यात्रा सम्वन्भी उत्सव मनावें। यह यात्रा अत्यन्त पुण्यदायिनी है। नारदपुराणमें भी यही बात कही गयी है।

यह सामान्य रथयात्रा कही गयी है। इसे सभी लोग अपने-अपने स्थानपर मना सकते है। उड़ीसाकी जगन्नाथपुरीमें यह उत्सव बड़े समारोहके साथ अखिल भारतीय स्तर पर मनाया जाता है। इसमें सम्पूर्ण भारतके भक्तजन सम्मिलित होते हैं। उस समय जगन्नाथ-मन्दिरसे विशाल रथ पर भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा देवीकी सवारी निकलती है और इन्द्रद्युम्न सरोवरतक जाती है। वहां गुण्डिचा नामक उद्यान-मन्दिरमें इन विग्रहोंका कई दिनोंतक विश्राम होता है और वहां भी भारी उत्सव मनाया जाता है। इस यात्रा को 'गुण्डिचा-यात्रा' भी कहते हैं। इस यात्राकी बड़ी महिमा है। उस समय जो लोग भगवद्विग्रहोंका दर्शन करते हैं, वे साक्षात् श्रीहरिके धाममें जाते हैं। (ना० पु०) इस यात्राके महत्व तथा विपुल आयोजनका वर्णन ब्रह्म पुराणमें द्रष्टव्य है।

हरिशयनी एकादशी—

आषाढ़ शुक्ला एकादशीको 'हरिशयनी एकादशी' कहते हैं। उस दिन हरिशयनोत्सव मनाया जाता है। हेमाद्रिमें उद्धृत ब्रह्मपुराणके वचनानुसार आषाढ़मासके शुक्ल पक्षकी एकादशी तिथिको भगवान् श्रीहरि प्रतिवर्ष क्षीरसागरके जलमें शेषनागकी शय्यापर शयन करते हैं। कल्पतरुमें यमका वचन है कि आषाढ़ी शुक्ला एकादशीको तो भगवान् सोते हैं और कार्तिक शुक्ला एकादशीको जागते हैं। अतः इन दोनों तिथियोंमें उनका पूजन करना चाहिये। इससे ब्रह्महत्या आदि महान् पापोंका भी नाश हो जाता है। जिसने शयनी और प्रबोधिनीको भी भगवान् केशवका पूजन कर लिया, उसके लिये बड़े-बड़े यज्ञोंके अनुष्ठान की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

नारद पुराणमें उस दिनके विशेष कृत्यका विवरण इस प्रकार दिया गया है— आषाढ़ शुक्ला एकादशीको उपवास करके सुन्दर मण्डप बनाकर उसमें भगवान् विष्णुकी स्वर्णमयी अथवा रजतमयी प्रतिमा स्थापित करे। वह प्रतिमा शंख, चक्र, गदा, और पद्मसे सुशोभित चार भुजा वाली होनी चाहिये। उसे पीताम्बर आदिसे सुसज्जित करके एक सुन्दर विस्तरसे विभूषित पलंगपर विराजमान कर देना चाहिये। तदनन्तरमन्त्र-पाठपूर्वक पंचामृत एवं शुद्ध जलसे स्नान कराकर पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंसे उक्त श्री विग्रहकी षोडशोपचार पूजा करे। इसके वाद निम्नांकित प्रार्थना करे—

सुप्ते त्वयि जगन्नाथ जगत् सुप्तं भवेदिदम्।
निवुद्धे त्वयि बुद्धं च जगत सर्वं चराचरम् ॥

(ना० पूर्व० १२०।२३)

'जगदीश्वर, आपके सो जानेपर यह संपूर्ण जगत् सुप्त हो जाता है और आपके जाग्रत होनेपर यह संपूर्ण जगत् भी जाग्रत रहता है।'

इस प्रकार प्रार्थना करके अपनी शक्तिके अनुसार कोई नियम ग्रहण करे और उसका चार महीनों तक अवश्य पालन करे। नियमोंमें ब्रह्मचर्य पालन, शम, दम, तथा भगवदाराधन आदि मुख्य हैं। असत्यभाषण, असत्कर्म तथा दुःसंगके त्याग आदिका नियम लिया जा सकता है। व्रतके दूसरे दिन द्वादशीको भगवान शेषशायीका षोडशोपचार पूजन करके ब्राह्मणोंको भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा दे स्वयं भी मौन भाव से भोजन करे। जो इस विधिसे 'शयनी' एकादशीका व्रत करता है, वह भगवान्‌की कृपा से भोग और मोक्ष का भी भागी होता है।

गुरु पूर्णिमा

आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमाको 'गुरूपूर्णिमा' का उत्सव होता है, उस दिन शिष्यगण

गुरुओंकी पूजा करते हैं इसी पूर्णिमाको व्यास-पूर्णिमा भी कहते हैं। गुरूका महत्व सर्वलोक विदित है। यह बात सभी जानते हैं कि गुरू विन होइ न ज्ञान। जिसे ज्ञान नहीं, वह अंधा है। जो ज्ञानार्जनकी शलाकासे अज्ञानतिमिरान्ध जनकी दृष्टि-शक्तिको उन्मीलित कर देते हैं, उन गुरुदेवके चरणोंमें कौन नतमस्तक नहीं होगा ? इसीलिये कहा गया है कि गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु महेश्वर हैं तथा गुरु साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। ऐसे श्रीगुरुदेवको बारंबार नमस्कार है।

ऐसे गुरू या आचार्यकी पूजा शिष्य को आजीवन करनी चाहिये। जिसके कोई गुरु नहीं, उन्हें भी पुराणप्रवर्तक व्यासदेवकी भक्तिपूर्वक पूजा करनी चाहिये। इसके सिवा श्रीकृष्ण तो जगद्गुरु हैं ही, अतः कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् का उच्चारण करके उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करना सबका परम प्रशस्त कर्तव्य है।

हेमाद्रिगत भविष्यपुराणके अनुसार नारीको इसी पूर्णिमाके दिन कोकिला व्रत आरम्भ करके उसे श्रावण पूर्णिमातक चलाना चाहिये। इसमें दिनको उपवास तथा रातको भोजनका विधान है। प्रतिदिन प्रातः स्नान, इन्द्रिय-संयम, ब्रह्मचर्य-पालन, भूमिपर शयन तथा समस्त प्राणियोंपर दयाभाव-यह व्रतवती नारीके लिये अवश्य पालनीय नियम है।

वामनपुराण तथा मदनरत्नके अनुसार इस तिथिको शिवशयनोत्सव मनाया जाना चाहिये। नारदपुराणके अनुसार उक्त तिथिको गोपद्म व्रत का विधान है।

●

भगवान्—गुरु-रूपमें

साधकको भगवान् गुरु रूपमें मिलते हैं और बहुत शीघ्र इसी जीवनमें मिलते हैं। तत्त्व दृष्टिसे तो गुरु-शिष्य दोनों परमात्माके स्वरूप हैं; फिर भी दोनोंमें अन्तर है। यह अन्तर ज्ञान-अज्ञानके कारण है। शिष्य जब ज्ञान प्राप्त कर अपने ब्रह्मस्वरूपका अनुभव करता है और अविद्यासे मुक्त होता है, तब वह भी गुरुकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। दोनोंके मध्यका पर्दा ज्ञानसे फटता है। उस समय गुरु-शिष्य दोनों तादात्म्यका अनुभव करते हैं।

—स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

●

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके सम्मानित सदस्य
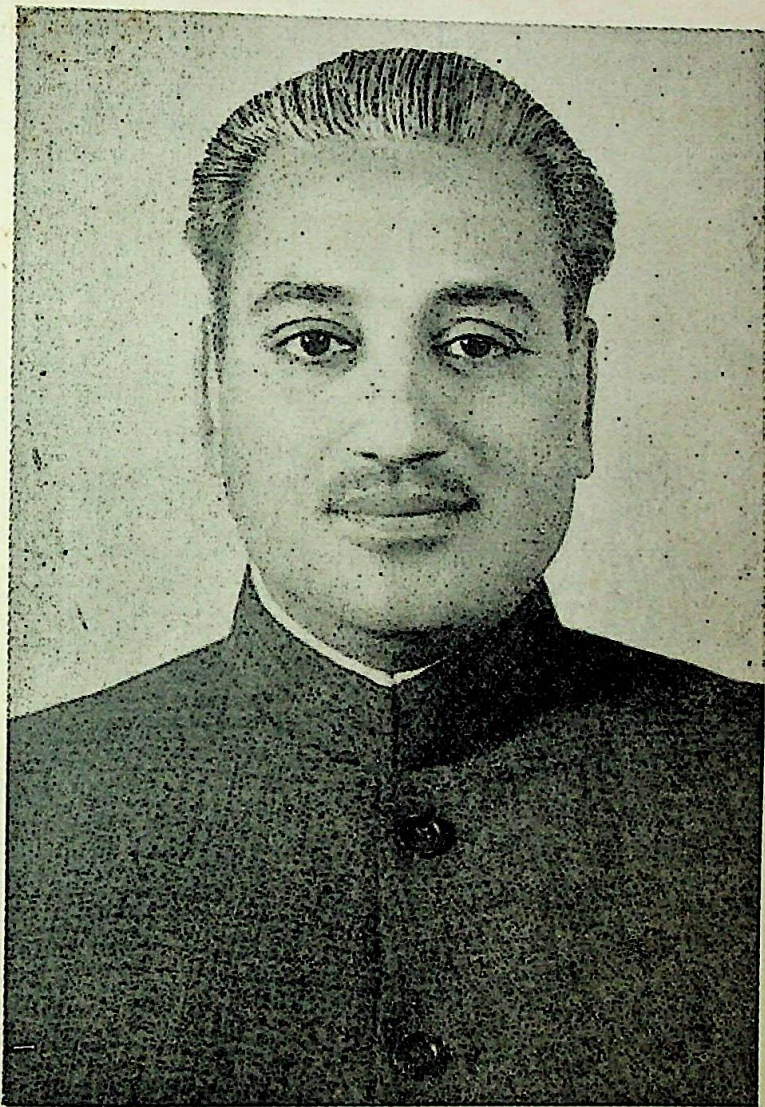
श्रीविष्णुहरिजी डालमिया

आपके औद्योगिक प्रतिष्ठानोंकी सराहनीय सहायतासे श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर अन्तर्राष्ट्रीय अतिथिभवनका निर्माण सम्पन्न हो चुका है और सुविशाल भागवत-भवनका निर्माण प्रगतिपर है।

पंजीयत सं० एल-८२७

* कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् *

'श्रीकृष्ण-सन्देश'

के

ग्राहक

बनिए और बनाइए;

क्योंकि—

★ यह श्रीकृष्ण-प्रेमी जनताका अपना पत्र है,
★ श्रीकृष्णकी दिव्य लीला, गुण, कर्म एवं वाणीसे अभिप्रेरित है,
★ निष्पक्ष एवं प्रामाणिक पाठ्य-सामग्रीसे भरपूर है,
★ नैतिक बल, पवित्राचरण एवं स्वधर्म-निष्ठाको बढ़ानेवाला है।

यदि आप—

★ लेखक हैं तो प्रेरणादायक लेख भेजकर
★ कवि हैं, तो निष्ठा-वर्द्धक कवितायें लिखकर
★ अधिकारी या सेवक हैं, तो अपना सहयोग देकर
★ उद्योगपति या व्यापारी हैं, तो अपने संस्थानोंके विज्ञापन देकर

श्रीकृष्ण-सन्देशको सफल बनाइये, उसकी सफलता आपके सहयोगपर ही निर्भर है।

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिये देवधर शर्मा द्वारा राधाप्रेस, गांधीनगर,
दिल्ली-३१ में मुद्रित तथा प्रकाशित।